

समरथ

अप्रैल-जून 2017 • नई दिल्ली



14 अप्रैल 1891—6 दिसंबर 1956

जाहि तो जन्म नसाई

पिछले महीने सहारनपुर की हिंसात्मक घटनाओं के बाद राष्ट्रीय राजधानी नई दिल्ली में जंतर-मंतर पर एक नवयुवक दलित लीडर चंद्रशेखर के नारे पर सिर्फ पश्चिमी उत्तर प्रदेश के कुछ जिलों, दिल्ली और आसपास से बड़ी संख्या में दलित धरना-प्रदर्शन के लिए एकत्रित हुए थे। इस प्रदर्शन में दलित नेता जगनेश मेवानी भी उपस्थित थे जिनके नेतृत्व में गुजरात के ऊना में गौ-रक्षकों के हाथों उत्पीड़न का निशाना बनने पर दलितों ने बड़े पैमाने पर विरोध-प्रदर्शन करके चक्का जाम कर दिया था। टीवी दर्शक दलित युवकों की नंगी पीठों पर कोड़े बरसाने का क्रूर दृश्य भूले नहीं होंगे। यह घटनाएं इसका सबूत हैं कि हम चाहे स्वयं को कितना जनतांत्रिक, न्यायप्रद और सेक्युलर समझें और अपनी राजनीतिक और शासन व्यवस्था और संविधान पर गर्व करें, मानसिक रूप से उसी युग में जी रहे हैं जब दलितों पर अत्याचार को धार्मिक मान्यता प्राप्त थी जो आज भी हमारी सामूहिक सोच का हिस्सा बनी हुई है।

दलित उत्पीड़न के साथ-साथ निकट अतीत की कुछ घटनाएँ इस बात का संकेत हैं कि देश में एक विशेष विचारधारा पर आधारित आक्रामक राष्ट्रवाद के साथ-साथ बहुसंख्यकवाद का भी उदय हो रहा है। विजलाते ग्रुप जिस तरह गऊ रक्षा के नाम पर उत्तरी राज्यों में अल्पसंख्यकों को निशाना बना रहे हैं और अपनी हरकतों के वीडियो वायरल कर रहे हैं उसका उद्देश्य अल्पसंख्यकों को भयभीत करना और स्पष्ट रूप से यह संदेश देना है कि उन्हें अब बहुसंख्यकों की मर्जी के मुताबिक जीना होगा। एक प्रसिद्ध समाज शास्त्री और विश्लेषक ने तो खुलकर कहा है कि चूंकि राज्य प्रत्यक्ष रूप से अल्पसंख्यकों को आतंकित नहीं कर सकता इसलिए ये काम उसकी सरपरस्ती में विजलाते ग्रुप कर रहे हैं।

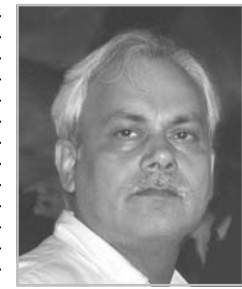
इन दिनों भाषणों, टीवी संवादों और रोजमर्रा की बातचीत में तुष्टिकरण शब्द का बार-बार और बहुतायत से प्रयोग हो रहा है जिसका उद्देश्य इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है कि जनता के दिमाग में यह बात बिठा दी जाए कि इस देश में स्वतंत्रता के बाद सिर्फ एक विशेष समुदाय को फायदा पहुँचाया गया है और बहुसंख्यकों के हितों की अवहेलना की गई है।

जबकि सच यह है कि देश और देश के जनतांत्रिक संस्थाओं विधायिका, न्यायपालिका, नौकरशाही, शैक्षिक संस्थानों, सेना, पुलिस, उद्योग, वाणिज्य और शिक्षा आदि अर्थात् जीवन के हर क्षेत्र में हमेशा से बहुसंख्यकों का पूर्ण वर्चस्व रहा है और यदि किसी को मुनासिब प्रतिनिधित्व नहीं मिला तो वह अल्पसंख्यक और दलित हैं। वो तो भारतीय संविधान ने दलितों को कम से कम विधायिका, नौकरशाही और अन्य सरकारी मुलाजमतों में आरक्षण देकर उनके मुनासिब प्रतिनिधित्व को सुनिश्चित किया वरना उनका क्या हाल होता इसका अंदाजा लगाना मुश्किल नहीं है। अगर जमीनी सचाई यह है तो बहुसंख्यकवाद के उदय और उसके फैलाव का केवल यही कारण हो सकता है कि यह सब ब्राह्मणवाद की पुनर्स्थापना का ही प्रयास है जिसका अंत स्वतंत्रता के बाद हमारे संविधान का असल उद्देश्य था।

जंतर-मंतर के धरना-प्रदर्शन को भी इसी ब्राह्मणवाद के खिलाफ संघर्ष के रूप में देखना चाहिए जो देश के लिए उम्मीद की किरण है और जिससे यह मालूम होता है कि दलित आंदोलन पर अब पारंपरिक नेतृत्व की पकड़ ढीली पड़ रही है और वह सामाजिक न्याय के सवाल पर कोई समझौता नहीं करेगा। अगर ऐसा न होता तो लगभग गुमनाम से गैर राजनीतिक नेताओं की आवाज पर दलितों का सैलाब यूँ न उमड़ पड़ता जो इसका प्रमाण है कि उनमें एक खामोश क्रांति पल रही है जिसकी आहट को न सुनना भारी भूल होगी।

अवध आपको बुलाता है

■ महेश राठी



तुमने देखा है कभी
काला सूरज
या सरपट गति को रोकते
हिनहिनाते घोड़े
या देखे हों कभी
मरघट में गाये जाते
जीवन के गीत
या देखें हों कभी
ऋहर की आँखों में
गम के आँसू
क्या देखे हों कभी
पिशाचों के प्रलाप में
लोरी की थाप की तरह
उंधते बच्चे
देखा तो ना होगा कभी
सूरज को लील कर
बढ़ता हुआ उजाला
या फिर
विकास के दस्तखत वाले
तबाही के फरमान!
तो आइये,
अवध आपको बुलाता है।

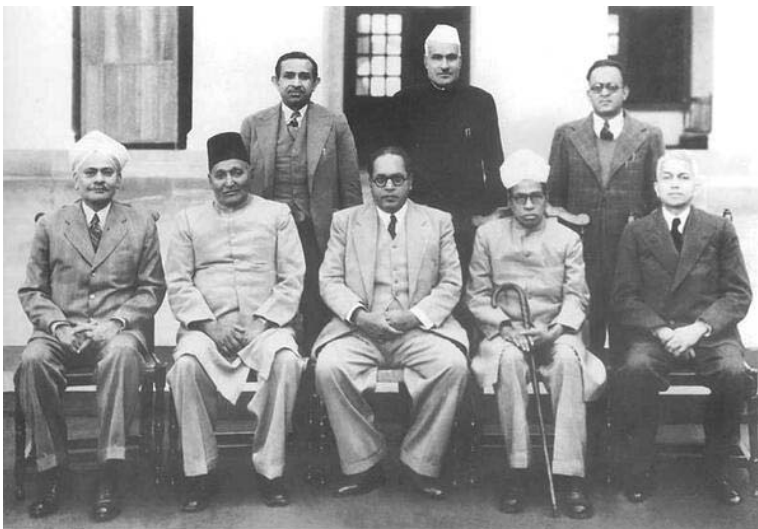
...तो इसलिए आरक्षण के हिमायती थे आंबेडकर

■ दिलीप मंडल

नवंबर के सर्दियों की सुबह थी—1949 के 25 नवंबर का दिन। देश आजाद हो गया था। संविधान सभा की आखिरी बैठक चल रही थी। गणराज्य की स्थापना की तैयारियां आखिरी दौर में थीं।

संविधान सभा में राय बनी कि मामले पर बहस का समापन बाबा साहब भीमराव आंबेडकर करें और उन सवालों का जवाब दें जो इस सिलसिले में उठे थे।

जिस व्यक्ति को सिर्फ ड्राफ्टिंग का जिम्मा दिया गया था, उनके लिए यह गौरव का क्षण था। संविधान की ड्राफ्टिंग से आगे बढ़कर बाबा साहब उस समय तक देश के प्रमुख राष्ट्र निर्माताओं के तौर पर गिने जाने लगे थे।



तमाम सहमतियों और असहमतियों के साथ संविधान सभा जानती थी कि नए बनते

राष्ट्र की चुनौतियों को समझने की एक समग्र दृष्टि बाबा साहब के पास है। इसलिए नेहरू, पटेल समेत कई वरिष्ठ सदस्यों के होते हुए भी बाबा साहब को यह जिम्मा सौंपा गया कि वे बहसों और आपत्तियों का जवाब दें।

बाबा साहब का वह ऐतिहासिक भाषण साबित हुआ। ऐतिहासिक इस मायने में नहीं कि इस भाषण में कोई अभूतपूर्व जोश या विद्वता थी। यह एक संयमित और बहुत संभलकर बल्कि सहमकर दिया गया भाषण है।

इस भाषण में बाबा साहब नए बनते राष्ट्र की चुनौतियों की ओर संकेत करते हैं और उन चुनौतियों से निबटने का उपाय बताते हैं। इस क्षण तक बाबा साहब, भारत को राष्ट्र कहने से बचते हैं। वे भारत को एक बनता हुआ राष्ट्र यानी नेशन इन द मेकिंग कहते हैं। एक वोट के सिद्धांत पर बात करते हुए वो ये भी साफ़ करते हैं कि देश में हालांकि वो समता नहीं तैयार हुई है। वो आर्थिक-सामाजिक गैरबराबरी को राष्ट्रनिर्माण में सबसे बड़ी बाधा मानते हैं।

उनकी सबसे बड़ी चिंता यह है कि जातियों में बंटा भारतीय समाज एक राष्ट्र की शकल कैसे लेगा और आर्थिक और सामाजिक गैरबराबरी के रहते वह राष्ट्र के रूप में अपने अस्तित्व की रक्षा कैसे कर पाएगा?

वे यह आशंका जताते हैं और संविधान सभा को चेतावनी देते हैं कि अगर हमने इस गैरबराबरी को खत्म नहीं किया तो इससे पीड़ित लोग उस ढांचे को ध्वस्त कर देंगे, जिसे इस संविधान सभा ने इतनी मेहनत से बनाया है।

उनकी एक और महत्वपूर्ण चेतावनी यह है कि अपनी मांगों को पूरा करने के लिए संविधानेतर आंदोलनों से अब परहेज़ करना चाहिए। इसे वे ग्रामर ऑफ एनार्की यानी अराजकता का रास्ता बताते हैं। उनके मुताबिक ये संवैधानिक ढांचे को कमज़ोर करेगा। वो तैयार हो रहे राज्य तंत्र पर हिंदू सवर्ण पुरुषों के दबदबे को लेकर बहुत असहज और फिक्रमंद थे।

यहां वे अछूतों के राजनीतिक-सामाजिक अधिकार के लिए लड़ते योद्धा या हिंदू धर्म की बुराइयों से टकराते नेता के रूप में नहीं हैं। न ही वे यहां वकील या अर्थशास्त्री के रूप में अपनी बात कह रहे हैं। यहां बाबा साहब राष्ट्र निर्माता के रूप में सामने आते हैं।

उनकी चिंताओं में कोई जाति या समूह नहीं है। वे इस मौक़े पर, बन रहे मुकम्मल राष्ट्र के पहले प्रवक्ता के तौर पर बोल रहे हैं। यह संविधानवादी आंबेडकर हैं, जो स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के वैश्विक सिद्धांत पर मन, वचन और कर्म से विश्वास करते हैं।

राष्ट्र की परिभाषा बाबा साहब फ्रांस के दार्शनिक अर्नस्ट रेनन से लेते हैं। रेनन नहीं मानते कि एक नस्ल, जाति, भाषा, धर्म, भूगोल या साज़ा स्वार्थ किसी जनसमुदाय को राष्ट्र बना सकते हैं।

रेनन के लिए राष्ट्र एक साज़ा विचार है, जो इसलिए है क्योंकि इसमें मौजूद हर व्यक्ति खुद को राष्ट्र का हिस्सा मानता है, इस मायने में यह हर दिन चलने वाला जनमत संग्रह है। रेनन और बाबा साहब दोनों के लिए राष्ट्र एक पवित्र विचार है, जिसमें हर सदस्य का साज़ा है। इसलिए संविधान सभा के आखिरी भाषण में बाबा साहब आर्थिक और सामाजिक गैरबराबरी के खात्मे को राष्ट्रीय एजेंडे के रूप में सामने लाते हैं।

उनकी कामना थी कि संवैधानिक संस्थाएं वंचित लोगों के लिए अवसरों का रास्ता खोले और उन्हें लोकतंत्र में हिस्सेदार बनाए। राष्ट्रीय एकता के लिए यह बेहद महत्वपूर्ण है।

इसलिए संविधान के मूल अधिकारों के अध्याय में अवसरों की समानता के सिद्धांत को स्वीकार करते हुए भी विशेष अधिकार का प्रावधान किया गया है। आरक्षण का सिद्धांत वहीं से आता है। यह करोड़ों की आबादी वाले भारत में वंचित जाति समूहों के हर सदस्य को नौकरी देने के लिए नहीं है। आरक्षण का मक़सद यह है कि वंचित

जातियों को महसूस हो कि देश में मौजूद अवसरों में उनका भी हिस्सा है और देश चलाने में उनका भी योगदान है। इसलिए संविधान अल्पसंख्यकों, आदिवासियों, महिलाओं सबका ख्याल रखता हुआ नज़र आता है।

22 दिसंबर, 1952 को पूना में वकीलों की एक सभा में बाबा साहब बोलते हैं, 'लोकतंत्र शासन की वह पद्धति है, जिसमें लोगों के सामाजिक और आर्थिक जीवन में बदलाव बग़ैर खूनखराबे के संभव हो।'

बहरहाल 25 नवंबर, 1949 की उस सर्द सुबह पर लौटते हैं। बाबा साहब के इस भाषण के बाद संविधान सभा के अध्यक्ष राजेंद्र प्रसाद संविधान सभा की बैठक को अगले दिन के लिए स्थगित करने की घोषणा करते हैं।

अगले दिन, 26 नवंबर को संविधान सभा संविधान को स्वीकार कर लेती है। दो महीने बाद, 26 जनवरी, 1950 को 'भारत के लोग' खुद को अपना संविधान सौंपते हैं और गणराज्य बन जाते हैं। लेकिन उसके बाद की कहानी एक विराट मोहभंग की कहानी है।

बाबा साहब ने उसी दिन कहा था कि हम सबसे अच्छा संविधान लिख सकते हैं, लेकिन उसकी कामयाबी आखिरकार उन लोगों पर निर्भर करेगी, जो देश को चलाएंगे।

गणराज्य की स्थापना के 67 साल बाद भी सामाजिक और आर्थिक ग़ैरबराबरी को ख़त्म करने का एजेंडा पूरा नहीं हो सका है। असमानता पहले से ज्यादा विकट हुई है। पूर्वोत्तर, कश्मीर, और मध्यभारत के बड़े इलाके असंतोष के कारण हिंसाग्रस्त हैं। जाति अपने विकराल रूप में मौजूद है। यूनिवर्सिटी, कॉरपोरेट जगत, मीडिया, संस्कृति और नौकरशाही जातिवाद के नए गढ़ हैं। भारत मानव विकास के तमाम मानकों पर दुनिया के सबसे फिसड्डी देशों में एक है। यह ग्लोब के सर्वाधिक अंधेरे कोनों में से एक है।

भारतीय लोकतंत्र को और सुंदर होना चाहिए था। देश चलाने वालों ने बाबा साहब को निराश किया है। यह संविधान सभा और बाबा साहब की कल्पना का राष्ट्र नहीं है। ऐसा क्यों हुआ, और इसके जिम्मेदार कौन हैं, यह एक और बहस है।

(लेखक समाजशास्त्र के शोधार्थी हैं)

साभार : <http://www.bbc.com/hindi/india-39591601>

4 • समरथ

अप्रैल-जून 2017

कहाँ हैं क्रांतिकारियों की निशानियाँ

■ सुधीर विद्यार्थी



किसी देश का इतिहास सिर्फ कागज पर दर्ज तारीखों में सांस नहीं लेता, बल्कि उसे इस बात से भी ताकत मिलती है कि वह देश अपनी धरोहरों और दस्तावेजों को कैसे सहेज-संभाल कर रखता है। वह अपनी धरोहरों, इतिहास से जुड़ी निशानियों को लेकर कितना संवेदनशील है। मगर हमारे यहां अपने इतिहास के पुराने दस्तावेजों की तो कौन कहे, स्वतंत्रता संग्राम से जुड़े क्रांतिकारियों तक की निशानियाँ सहेज कर रखने का उचित प्रयास नहीं किया जा सका है। इसके चलते कई ऐतिहासिक तथ्य गड्ढमड्ढे होते रहते हैं या फिर उन्हें लेकर सवाल उठते रहते हैं। क्रांतिकारियों की ऐसी ही गुमनाम निशानियों के बारे में चंद जानकारियाँ।

भारतीय क्रांतिकारी दल के संगठनकर्ता शर्चींद्रनाथ सान्याल ने 1922 में 'हिंदुस्तान प्रजातंत्र संघ' का संविधान रचा, जिसे 'पीला पर्चा' कहा गया। इस दल के गठन से पूर्व वे काला पानी की यात्रा से लौट कर 'बंदी जीवन' की रचना कर चुके थे। क्रांतिकारियों की गीता कही जाने वाली यह पुस्तक पहले बांग्ला में आई, फिर उसका हिंदी अनुवाद छपा, जो अत्यंत लोकप्रिय हुआ। इस आत्मकथा की मूल बांग्ला प्रति का आज किसी को पता नहीं। शर्चींद्र दा

के निधन के सत्तर वर्षों बाद जब मैंने उनका पुराना बक्सा खोला, तो उसमें क्रांतिकारी संग्राम के इतिहास का अमूल्य खजाना देख कर दंग रह गया। उनकी पुस्तकें 'विचार विनिमय', 'धर्म, समाज और विज्ञान', 'वंशानुक्रम विज्ञान' के साथ ही बरेली, आगरा, नैनी, लखनऊ और देवली कैम्प जेल की उनकी दुर्लभ डायरियाँ और 'प्रताप', 'यंग इंडिया' की पुरानी फाइलें और उनके जेल से लिखे असंख्य पत्र, जिसके साथ रासबिहारी बोस के तोक्यों से लिखे पत्रों की अबूझ श्रृंखला और नेहरू और संपूर्णानंद के पत्र भी हैं, जो अब तक इतिहास लेखकों की पहुंच से दूर बने हुए हैं। खेद है कि इस दुर्लभ और अमूल्य इतिहास संपदा को न तो कहीं संजोया गया है और न इसके प्रकाशन या उपयोग के लिए कोई सार्थक प्रयास किए गए। भारतीय क्रांतिकारी इतिहास की ऐसी कितनी ही सामग्री समय के साथ नष्ट होती चली गई और हम इस ओर उदासीन बने रहे। हमारे भीतर इतिहास चेतना की अनुपस्थिति का यह सबसे बड़ा प्रमाण है।

1988 की बात है, जब शहीदे-आजम भगतसिंह के साथी, काला पानी गए क्रांतिकारी जयदेव कपूर ने मुझे भगतसिंह की दो दुर्लभ निशानियाँ



सौंपते हुए कहा कि इन्हें अपने शहर में संग्रहालय बना कर सुरक्षित रखूं। इनमें वह ऐतिहासिक घड़ी थी, जिसे देश छोड़ कर जापान रवाना होने से पहले रासूदा (रासबिहारी बोस) ने शचींद्रनाथ सान्याल को सौंप दी थी और बाद में शचींद्र दा ने वह घड़ी भगतसिंह को दी। उस घड़ी को हाथ में लेकर जयदेव दा अक्सर कहा करते थे कि कब बताएंगी इसकी सूझियां क्रांति का वह वक्त, जिसकी प्रतीक्षा में हमने जानें खपा दीं। और एक जोड़ी जूते, जिन्हें पहन कर भगतसिंह 8 अप्रैल 1929 को दिल्ली की केंद्रीय असेंबली में बम फेंकने गए थे। उन्हें पहली बार स्पर्श करते हुए हम सचमुच बहुत भावुक हुए थे। भगतसिंह की ये दुर्लभ निशानियां, जो इतिहास की धरोहर हो सकती थीं, आज पता नहीं कहां पड़ी धूल खा रही हैं।

काकोरी शहीद अशफाकउल्ला के कुछ पत्रादि एक समय पं. बनारसीदास चतुर्वेदी के प्रयास से राष्ट्रीय अभिलेखागार में सुरक्षित करा दिए गए थे, पर जो चीजें उनके घर में बची रह गई थीं, वे लापरवाही के चलते चोरी चली गई। पर उनके शाहजहांपुर वाले पुराने घर में अब भी अशफाक की एक छोटी जेल नोट बुक और कुरान की वह प्रति सुरक्षित है, जिसे गले में लटका कर लब्बैक कहते हुए 19 दिसंबर, 1927 को फैजाबाद जेल में उन्होंने फांसी घर की ओर कदम बढ़ाए थे। इस कुरान के शुरुआती पृष्ठ पर अशफाक की हस्तलिपि भी सुरक्षित है। शहीद रोशन सिंह के भी कुछ पत्र उनके गांव नवादा वाले मकान में अभी बेतरतीब रखे हैं। मुझे याद है कि 10 अगस्त, 1972 को दिल्ली के चिरंजीलाल पालीवाल ने क्रांतिकारियों के कुछ हथियार, जिनमें तीन पिस्तौल, चार रिवाल्वर, एक टूटी और एक शॉटगन आदि थे, जो चालीस वर्षों से उनके गली बतासान चावड़ी बाजार के घर में लोहे के एक पुराने बक्से में सुरक्षित थे, वे उन्होंने तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी को भेंट किए। इन हथियारों में चंद्रशेखर आजाद और भगतसिंह की वे पिस्तौलें भी थीं, जिनसे उन्होंने अंग्रेज पुलिस अफसर सांडर्स को लाहौर में मारा था। साथ ही जगदीश कपूर और अन्य क्रांतिकारियों की पिस्तौल के साथ ही वह बैटरी भी थी, जिसकी मदद से तुगलकाबाद स्टेशन पर वायसराय की ट्रेन को उड़ाया गया था। उसमें कुछ सामग्री और भी थी, जिसमें भगतसिंह का छपा हुआ बयान, जिसे उन्होंने दिल्ली बम केस के बाद दिया और सुखदेव का एक पत्र और क्रांतिकारी भगवतीचरण के ब्लॉक तथा पेंट थे। इस सामान का विवरण 'इंडियन एक्सप्रेस' के 19 अगस्त, 1972 के अंक में छपा भी था।

चिरंजीलाल अपने विद्यार्थी जीवन में हिंदू कॉलेज की पढ़ाई के दौरान दिल्ली विश्वविद्यालय की छात्र यूनियन के सभापति थे और उस समय उन्होंने क्रांतिकारियों के संपर्क में रहते उनके हथियारों की सुरक्षा का भार अपने ऊपर लिया था। इंदिराजी ने क्रांतिकारियों की इन

निशानियों को पाकर तब बहुत प्रसन्नता व्यक्त की थी, लेकिन नहीं पता कि बाद में उन चीजों का क्या हुआ। बनारसीदास चतुर्वेदी अपने शहीदों के मिशन के दौरान बार-बार कहते रहे कि हमें शहीद अशफाक का तमंचा तलाश करके किसी संग्रहालय में सुरक्षित करा देना चाहिए। पर वह हमें प्राप्त नहीं हो सका। यह आश्चर्यजनक है कि भगतसिंह की जेल नोटबुक की ओर हमारा ध्यान उनकी शहादत के तिरसठ वर्षों बाद तब जा सका जब एक विदेशी विद्वान एलबी मित्रोखिन ने 1981 में पहली बार प्रकाशित अपनी पुस्तक 'लेनिन एंड इंडिया' में एक अलग अध्याय इस पर लिखा और फिर 1993 में अंगरेजी 'इंडियन बुक क्रॉनिकल' से भूपेंद्र हूजा और जीबी कुमार ने उसे अपनी भूमिका के साथ जयपुर से छपा। फिर 1999 में इसका हिंदी अनुवाद हुआ। पर ऐसा क्यों हुआ कि चार सौ पृष्ठों की इस जेल नोट बुक की एक फोटो प्रति तीन मूर्ति भवन के जवाहरलाल नेहरू मेमोरियल म्यूजियम और लाइब्रेरी में रखी रही और जिसे 1979 में अनेक शोधकर्ताओं ने देखा और पढ़ा, फिर भी उसके प्रकाशन की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। गुरुकुल कांगड़ी के तत्कालीन कुलपति हूजा 1981 में गुरुकुल इंद्रप्रस्थ, दिल्ली से बीस किमी दक्षिण तुगलकाबाद रेलवे स्टेशन के निकट दौरे पर गए थे, जहां संस्था के प्रमुख अधिष्ठाता स्वामी शक्तिवेश के गुरुकुल के 'हॉल ऑफ फेम' के तहखाने में सुरक्षित इस ऐतिहासिक धरोहर की एक हस्तलिखित डुप्लीकेट प्रतिलिपि दिखाई, जिसे हूजा ने कुछ दिनों के लिए मांग लिया। बाद में दिल्ली-फरीदाबाद के आर्यसमाजी भूमाफियों के हाथों शक्तिवेश की हत्या हो गई और यह डायरी (प्रतिलिपि) हूजा के पास ही रह गई। मित्रोखिन का कृतज्ञ होना चाहिए कि हमारे अनेक साथियों की लापरवाही और दृष्टिहीनता के चलते भगतसिंह की जो जेल नोटबुक इतिहास के अंधेरे तहखानों में पड़ी उपेक्षा की धूल खा रही थी, वह उनके प्रयासों से प्रकाश में आकर हमारे क्रांतिकारी दस्तावेजों का अमूल्य हिस्सा बन सकी।

फिर भी यहां सवाल उठता है उन चार पुस्तकों का, जिन्हें भगतसिंह ने जेल के भीतर लिपिबद्ध किया था और फांसी से पहले अपने भाई कुलबीर सिंह की मार्फत बाहर लज्जावतीजी के पास भिजवा दिया था। वे पुस्तकें हैं- आइडियल ऑफ द सोशलिज्म, द डोर टु डेथ, ऑटोबायोग्राफी और द रिवोल्यूशनरी मूवमेंट ऑफ इंडिया। पता लगा कि इन पुस्तकों की जानकारी सिकंदराबाद (आंध्र प्रदेश) में रह रहे भगतसिंह के साथी विजय कुमार सिन्हा को थी। लज्जावती से जब भगतसिंह की इन पुस्तकों के बारे में पूछा गया तो उनका कहना था कि वह देश की संपत्ति थी और उसे उन्होंने पं. नेहरू को सौंप दिया। आखिर उन पुस्तकों की खोजबीन क्यों नहीं की गई। आखिर भगतसिंह के परिवार वालों और उनके जीवित बचे साथियों ने भी इन महत्वपूर्ण दस्तावेजों पर चुप्पी क्यों साध ली। विजय दा से अनेक बार

पूछने पर भी उन्होंने हमें इसके बारे में नहीं बताया। और भगतसिंह की कूट भाषा में लिखी जेल की उस डायरी की भी खोज-खबर नहीं मिल पाई, जिसके बारे में कुलबीर सिंह ने एक बार मित्रोखिन से चर्चा की थी। भगतसिंह के वकील प्राणनाथ मेहता भी एक डायरी रखते थे। पर बदकिस्मती से वह भी विभाजन के वक्त कुछ और कागजात के साथ लाहौर में छूट गई। फिर पता नहीं उन चीजों का क्या हुआ। यह प्रश्न अनेक बार उठा कि भारतीय क्रांतिकारी दल के अजेय सेनापति चंद्रशेखर आजाद अपने पास माउजर रखा करते थे, जिसे कई बार प्यार से वे 'बमतुलबुखारा' कहते थे। सांडर्स वध में उन्होंने इसी माउजर का प्रयोग किया था। लेकिन 27 फरवरी, 1931 को इलाहाबाद के अल्फ्रेड पार्क में ब्रिटिश पुलिस से मुठभेड़ और अपनी शहादत के समय उनके पास से कोल्ट पिस्तौल प्राप्त हुई, जिसका विवरण इस प्रकार है— 'कोल्ट पिस्तौल, पीटीएफए मैनुफैक्चर्स कं., हार्टफोर्ड सीटी (अमेरिका) पेटेंटेड, अप्रैल 20, 1897-दिसंबर 22, 1903, कोल्ट आटोमेटिक कैलिबर, 32, रिमलैस एंड स्मोकलेस।'

इलाहाबाद के सरकारी मालखाने की छानबीन के बाद 27 फरवरी, 1931 के रजिस्टर में आजाद की इसी पिस्तौल का विवरण दर्ज है। इसके साथ यह नोट भी लिखा है कि यह पिस्तौल नट बावर एसएसपी को, जिनकी पहली गोली से आजाद घायल हुए थे, उन्हें इंग्लैंड जाते समय भेंट कर दी गई। चूंकि नट बावर उत्तर प्रदेश शासन से पेंशन पाते थे, ऐसी स्थिति में इलाहाबाद के कमिश्नर श्री मुस्तफी (जो बाद में लखनऊ विश्वविद्यालय के कुलपति भी रहे) की ओर से नट बावर को पिस्तौल वापस करने के लिए पत्र लिखा गया। कोई उत्तर न मिलने पर केंद्र की मदद से इंग्लैंड स्थित भारतीय उच्चायुक्त अप्पा साहब के प्रयत्नों से नट बावर ने वह पिस्तौल इस शर्त के साथ लौटाना स्वीकार किया कि भारत सरकार उसे एक अनुरोध पत्र के साथ ही आजाद के शहादत स्थल पर लगी मूर्ति का एक फोटोग्राफ भेज दे। इस तरह 1972 के प्रारंभ में आजाद की वह कोल्ट पिस्तौल दिल्ली आई और फिर 27 फरवरी, 1973 को लखनऊ के गंगाप्रसाद मेमोरियल हॉल के सामने क्रांतिकारी शचींद्रनाथ बख्शी की अध्यक्षता में आयोजित एक समारोह के बीच उसे लखनऊ संग्रहालय में संरक्षित कर दिया गया। बाद में जनता शासन के समय इलाहाबाद का नया संग्रहालय बनते ही आजाद की उस अंतिम निशानी को वहां एक विशेष कक्ष में स्थानांतरित कर दिया गया। उन्हीं दिनों इलाहाबाद संग्रहालय से आजाद के माउजर के चोरी चले जाने के समाचार से हड़कंप मच लगया, जो नितांत भ्रामक था। दरअसल, 27 फरवरी, 1931 को पुलिस मुठभेड़ में आजाद के पास कोल्ट पिस्तौल ही थी, माउजर नहीं। कोल्ट छोटी होती है, जिसे वे अपनी सुरक्षा के लिए सदा जेब में डाले रहते थे। माउजर का साइज बड़ा होता है, जिसे जेब में नहीं रखा जा सकता। यह सही है कि आजाद

के पास माउजर भी रहता था, जिसका उन्होंने कई बार प्रयोग किया, पर जीवन के अंतिम क्षणों में उनका संग-साथ कोल्ट ने ही दिया था। लेकिन आजाद का माउजर कहाँ गया, यह सवाल अनेक वर्ष पहले बार-बार उठा।

इलाहाबाद के कटरा मुहल्ले में आखिरी दिन तक आजाद के साथ रहने वाले गढ़वाल के क्रांतिकारी भवानी सिंह रावत के मैं निकट संपर्क में था। रावतजी ने भी मेरे अनुरोध पर एक बार लेख लिख कर आजाद के माउजर पिस्तौल की खोजबीन का मामला उठाया, पर हमारी यह तलाश अधूरी ही बनी रही। क्रांतिकारी भवानी सिंह के साथ मैं आजाद की बलिदान अर्धशताब्दी पर इलाहाबाद के अल्फ्रेड पार्क में गया था, जहां तब आजाद और भगतसिंह-युग के अनेक क्रांतिकारियों ने हिस्सेदारी की थी। हम रसूलाबाद घाट पर बनी आजाद की समाधि पर भी पुष्प चढ़ाने गए। इसके कुछ दिनों बाद ही समाचार मिला कि रसूलाबाद घाट पर बनी आजाद की उस समाधि को इलाहाबाद नगरपालिका के एक इंजीनियर ने तुड़वा दिया। यह था स्वतंत्र भारत में मुक्ति-युद्ध के एक सेनानी का सम्मान! आजाद की शहादत के बाद उनका दाह संस्कार उनके रिश्तेदार पं. शिवविनायक मिश्र ने इसी स्थल पर किया था। उन्होंने 2 मार्च, 1931 को उनकी अस्थियां बटोर कर त्रिवेणी संगम में विसर्जित कर दी थीं। कुछ अस्थियां वे अपने घर वाराणसी एक ताम्रपात्र में रख कर ले भी गए थे, जहां उन्होंने एक दीवार में छिपा कर रख दिया। 1975-76 में कुछ लोगों का ध्यान उधर गया और अस्थियां उनके घर से विद्यापीठ लाकर एक जुलूस में लखनऊ, मिर्जापुर, इलाहाबाद, प्रतापगढ़, रायबरेली, सोख्ता आश्रम, कालपी, उरई, झांसी, सातार तट-ओरछा, कानपुर और बदरका होते हुए पुनः लखनऊ लाकर 10 अगस्त, 1976 को जनता के दर्शनार्थ रखी गईं। यह स्वतंत्र भारत में सेनापति आजाद के अस्थि-कलश को हमारी अंतिम श्रद्धांजलि थी। आजाद की शहादत पर नट बावर और ब्रिटिश खुफिया अधिकारी एसटी कालिंस का बयान भी हमारे क्रांतिकारी आंदोलन के प्रमुख दस्तावेज हैं, जिन्हें संरक्षित किए जाने की आवश्यकता है। भारतीय क्रांतिकारियों के अनेक पत्र, दस्तावेज, आलेख और चित्र आदि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अनेक वर्षों तक विभिन्न लोगों के निजी संग्रह में उपलब्ध थे। फिर धीरे-धीरे उनका क्या हुआ, किसी को पता नहीं लगा। खुद मेरे पास क्रांतिकारी भवानी सिंह रावत, मन्मथनाथ गुप्त, दुर्गा भाभी, सुरेंद्र पांडेय, शिव वर्मा, जयदेव कपूर, सदाशिवराव मलकापुरकर, भगवानदास माहौर, वीरेंद्र पांडेय, कुलतार सिंह आदि की स्मृति के रूप में उनके दुर्लभ पत्रों का विपुल संग्रह है, जिसे प्रकाश में लाने की जरूरत है। मैंने अनेक बार मांग की कि दिल्ली में शहीदों और क्रांतिकारियों की निशानियों का एक बड़ा संग्रहालय स्थापित किया जाए।

साभार : जनसत्ता

ज्ञान का परिसर सिर्फ यह कहने से समृद्ध नहीं होगा कि हम महान थे

■ अपूर्वानंद



यह विश्वविद्यालयों के परिसर में राष्ट्रीय झंडे को ऊंचा लहराकर उसके प्रति श्रद्धा की मांग करके भी नहीं होगा। इससे तो हमारी हीनता ग्रंथि ही प्रदर्शित होगी।

अभी हाल में दिल्ली विश्वविद्यालय के एक कॉलेज में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की एक संस्था ने लगभग सात सौ अध्यापकों का एक समागम किया। बताया गया कि इनमें 51 विश्वविद्यालयों के कुलपति भी थे, दिल्ली विश्वविद्यालय समेत। इसे विश्वविद्यालय की स्वायत्तता में हस्तक्षेप बताकर इसकी आलोचना की जा रही है।

लेकिन कहा जा सकता है कि यह इन अध्यापकों और कुलपतियों का अधिकार है कि वे ऐसे किसी कार्यक्रम में जाएं। कल वे या कोई और कम्युनिस्ट पार्टी या नेशनल कॉन्फ्रेंस के किसी आयोजन में भी जाने को स्वतंत्र होंगे, यह उम्मीद की जानी चाहिए। यह भी कि सीताराम येचुरी को किसी शिक्षा संस्थान में बुलाने पर किसी को न तो दंडित किया जाएगा, न गोष्ठी रद्द करवाई जाएगी।

जो छूट शिक्षकों को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्यक्रम में जाने के लिए मिली है, वह इस सिद्धांत के तहत कि शिक्षकों को राजकीय मत से स्वतंत्र मत रखने का अधिकार है। यह अलग बात है कि इस प्रसंग में इन शिक्षकों का मत आज के सरकारी दल से मेल खाता है। इसकी आज़ादी मिलनी ही चाहिए कि मैं राज्य से सहमत होऊं और उसका पक्षपोषण करूं। कुलपति को भी यह हक है। इसलिए मुझे इस समागम पर और उसमें शिक्षकों और कुलपतियों की भागीदारी पर कोई सैद्धांतिक आपत्ति नहीं है, उनके विवेक की

गुणवत्ता के बारे में मेरी राय जो भी हो।

यह इन अध्यापकों और कुलपतियों का अधिकार है कि वे ऐसे किसी कार्यक्रम में जाएं। कल वे या कोई और कम्युनिस्ट पार्टी या नेशनल कॉन्फ्रेंस के किसी आयोजन में भी जाने को स्वतंत्र होंगे।

इस प्रसंग में 2002 याद आता है। गुजरात में जनसंहार जारी था। दूर दिल्ली में बैठे बौद्धिक समुदाय में बेचैनी थी। लेखकों, शिक्षकों और अन्य बुद्धिजीवियों ने इस पर अपना दुःख और प्रतिरोध ज़ाहिर करने के लिए अभियान चलाया। उसमें उस वक्त महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के कुलपति अशोक वाजपेयी थे। मैं भी उन्हीं के साथ काम करता था। इस प्रतिरोध के बीच अशोकजी को मानव संसाधन विकास मंत्रालय से एक पत्र मिला। उनसे स्पष्ट करने को कहा गया था कि एक केंद्रीय विश्वविद्यालय का कुलपति होते हुए वे कैसे इस राज्य विरोधी अभियान में शामिल हैं। हमने उसका उत्तर देते हुए यही कहा कि विश्वविद्यालय बाकी राजकीय संस्थाओं से अलग हैं और उनमें काम करने वाले भी सरकारी कर्मचारियों से अलग हैं। उन्हें अपना सामाजिक और राजनीतिक मत रखने और उसे व्यक्त करने का अधिकार मिला है, इसलिए कुलपति होने के कारण अशोक वाजपेयी पर पाबंदी नहीं लग जाती कि वे अपने राजनीतिक मत को अभिव्यक्त न करें।

दूसरे, अगर इन सबको किसी आदेश के तहत, जबरन इकट्ठा किया गया था तो मानकर चला जा सकता है कि अपने साथ जबरदस्ती किए जाने के चलते क्षुब्ध अध्यापकों पर संघ के बौद्धिकों का कोई असर न होगा। यानी, वे अभी अपनी राजकीय ताकत

का इस्तेमाल कर भले ही भीड़ ले आएँ और शिक्षक भय या प्रलोभनवश आ भी जाएँ, वे उनकी वैचारिक वफादारी न ले सकेंगे। बल्कि सम्भवतया इस जबरदस्ती को लेकर शायद एक प्रकार की वितृष्णा ही पैदा हो। फिर यह वफादारी किंचित अवसरवादी है। और अगर यह जमावड़ा सचमुच इस राजनीतिक या सामाजिक विचार में यकीन करने वालों का है तो इससे एक बात प्रकट होती है, वह यह कि आज तक उनके राजनीतिक मतवाली सरकार न होने के बावजूद वे बने रहे और किसी सरकार ने उन्हें संघ का होने की वजह से न तो निकाला, न प्रताड़ित किया। यह रवैया क्या वे खुद सत्ता में रहते हुए प्रतिकूल मतवालों के साथ अपनाएँगे? इस सवाल का जवाब तसल्लीबख़्शा नहीं है।

ऐसी ख़बर लगातार मिल रही है कि अध्यापकों को इस बात के लिए नोटिस मिल रहे हैं कि उन्होंने ऐसे आयोजन क्यों किए जो संघ समर्थित लोगों के अनुसार राष्ट्रवादी नहीं हैं, या राष्ट्रविरोधी हैं। यह अभियान यहां तक पहुंच गया है कि यह आरोप लगाकर शिक्षकों को प्रताड़ित किया जा रहा है कि वे कम्युनिस्ट हैं और इस वजह से ख़तरनाक हैं।

संघ को जिनसे नफ़रत है, उस नेहरू ने भी नियति से साक्षात्कार' वाले अपने प्रसिद्ध उद्बोधन में भारतीय संस्कृति से पांच हजार साल लंबे सफ़र की याद दिलाई थी। प्रश्न सिर्फ़ इस संस्कृति के आज के स्वरूप का है।

एक तरह से यह अच्छा है कि संघ समर्थित अध्यापक अब खुलकर अपनी बात कह रहे हैं। लेकिन उनके स्वर में शिकायत और हीनताबोध अधिक झलकता है, बौद्धिक आत्मविश्वास का पता नहीं चलता। अगर ज्ञान के नाम पर कहने को सिर्फ़ यही है कि भारत ज्ञान के क्षेत्र में सबसे आगे था और उससे जबरन यह गद्दी छीन ली गई, तो यह बात अब बहुत घिस गई है। इसके लिए वे अंग्रेज़ों और मुग़लों तक पर आरोप लगाते हैं। जब वे मुग़लकाल को भी भारत के लिए अंधकार काल मानते हैं तो वे एक तरह से उपनिवेशवादी दृष्टि को ही ज्यों का त्यों अपना ले रहे हैं। मध्यकाल रचनात्मक दृष्टि से अत्यंत समृद्ध है। फिर कैसे मान लें कि उस समय भारतीय बुद्धि पर कब्ज़ा कर लिया गया था और वह कुंठित हो गई थी।

उससे बड़ा प्रश्न यह है कि भारतीयता का आरम्भ बिंदु क्या है! उसका पता करने का तरीका क्या है? क्या इसमें यही बहस चलती रहेगी कि आर्य बाहर से यहां आए या यहां से बाहर गए। रोमिला थापर जैसी इतिहासकार भी इस बहस के पुराने तरीके को ख़ारिज कर चुकी हैं। भारतीय सभ्यता की प्राचीनता में शायद ही किसी को संदेह हो। संघ को जिनसे नफ़रत है, उस नेहरू ने भी नियति से साक्षात्कार' वाले अपने प्रसिद्ध उद्बोधन में भारतीय संस्कृति

से पांच हजार साल लंबे सफ़र की याद दिलाई थी। प्रश्न सिर्फ़ इस संस्कृति के आज के स्वरूप का है। ग़ैरबराबरी और भेदभाव पर आधारित हिंसा क्योंकि इसका स्वभाव बन गई?

क्या भारतीयता का कोई एक निश्चित प्रारंभिक बिंदु सुझाया जा सकता है? क्योंकि यह तय किए बिना बाहरी तत्वों को, जिन्हें अक्सर दूषण माना जाता है, निश्चित करना कठिन होगा। बौद्ध मत क्या भारतीय है? क्योंकि एक समय इसे पीट पीटकर भगा ही दिया गया था। यह आधुनिक भारत में एक स्मृति के रूप में सोया रहा और फिर लौटा दूसरे देशों के रास्ते। तो इसमें अब उन देशों का कितना हिस्सा है?

यदि नालंदा के अनुभव को ही देखें तो वह अनेकानेक संस्कृतियों का मिश्रण है। वह आज की भाषा में राष्ट्रीय से अधिक अंतरराष्ट्रीय अनुभव है। आख़िर भारत में अंतरराष्ट्रीय मेधा को आकर्षित करने की क्षमता क्यों नहीं बची? और उनके बिना ज्ञान का परिसर समृद्ध कैसे होगा? ज्ञान के क्षेत्र में नारेबाज़ी से हमपेशा समुदाय में स्वीकृति नहीं मिल जाती। वह इतिहास हो या राजनीति शास्त्र, स्वीकृति अंतरराष्ट्रीय होती है।

वह सिर्फ़ यह कह कहकर नहीं हो सकता कि हम महान थे, यह अपने परिसर में अपने राष्ट्रीय झंडे को ऊंचा लहराकर उसके प्रति श्रद्धा की मांग करके भी नहीं होगा। अगर वैसा किया गया तो हमारी हीनता ग्रंथि ही प्रदर्शित होगी। दूसरे, ज्ञान के क्षेत्र में नारेबाज़ी से हमपेशा समुदाय में स्वीकृति नहीं मिल जाती। वह इतिहास हो या राजनीति शास्त्र, स्वीकृति अंतरराष्ट्रीय होती है। रोमिला थापर इसलिए इतिहासकार नहीं हैं कि भारत में साजिश उनमें इतिहासकार घोषित कर दिया गया है, बल्कि इसलिए कि पूरी दुनिया के इतिहासवेत्ता उन्हें मानते हैं।

दो साल पहले एक ब्राह्मण बौद्धिक मंच अचानक सक्रिय हुआ और उसने कहा कि वेदों की श्रेष्ठता स्थापित करने का वक्त आ गया है। उन्होंने इसके लिए एक दौड़ के आयोजन की घोषणा की। यह पूछने पर कि कौन वैदिक प्रभुत्व को चुनौती दे रहा है, उन्होंने रोमिला थापर का नाम लिया। यह पूछने पर कि वे कैसे किसी नए ज्ञान को रोक सकती हैं, क्योंकि वे किसी ताकतवर पद पर नहीं हैं, उन्होंने उनके प्रभाव को दोषी ठहराया।

मैंने उनसे कहा कि वेद के संबंध में किसी नए ज्ञान के लिए दौड़ने की जगह बैठने की जरूरत होगी। बैठकर पढ़ने और लिखने की, दीर्घ तपस्या की। तपस्या भारतीय शब्द और अवधारणा है। इसमें सत्ता से दूर, लोगों की निगाहों से दूर, सांसारिकता के प्रलोभन से अलग विद्या में स्वयं को लीन कर देना होता है। क्या यह संयम और धैर्य भारतीयता का नामजाप करने वालों में है?

हिंदुत्व का गढ़ बनने से पहले मुस्लिम जोगियों का भी केंद्र था गोरखनाथ पीठ

■ मनोज त्यागी



सांप्रदायिकता और जातिवाद के खिलाफ शुरू होने वाले गोरखनाथ पीठ से कभी बड़ी संख्या में मुसलमान और अछूत मानी जाने वाली जातियां जुड़ी थीं।

पूर्वी उत्तर प्रदेश में मुसलमान जोगियों के दर्जनों गांव हैं। इन गांवों में ऐसे मुसलमान जोगी रहते हैं जो नाथ पंथियों की तरह गेरूआ रंग का वस्त्र (गुदरी, कंथा) पहनते हैं और हाथ में सारंगी लिए गांव-गांव गोपीचंद्र और राजा भर्तृहरि के गोरखनाथ के प्रभाव में संन्यासी हो जाने की लोककथा गीत गाते फिरते हैं। ग्रामीण इन्हें भेंट स्वरूप अनाज व नकदी देते हैं और बड़े चाव से उनसे गोरखनाथ की महिमा का वर्णन करने वाले गीत सुनते हैं।

ये जोगी कौन हैं, उनका क्या इतिहास है और उनका गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित नाथ संप्रदाय से क्या

संबंध है, इसको आज बहुत कम लोग जानते हैं। पहले ये मुसलमान जोगी खूब देखे जाते थे लेकिन अब बहुत कम दिखते हैं।

हिंदी के प्रसिद्ध विद्वान हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नाथ संप्रदाय पर लिखी अपनी पुस्तक में इनके बारे में जानकारी दी है। उन्होंने लिखा है, 'नाथमत को मानने वाली बहुत सी जातियां घरबारी हो गई हैं। देश के हर हिस्से में ऐसी जातियों का अस्तित्व है। इनमें बुनाई के पेशे से जुड़ी तमाम जातियां हैं। इनमें मुसलमान जोगी भी हैं। पंजाब के गृहस्थ योगियों को रावल कहा जाता है और ये लोग भीख मांगकर, करामात दिखाकर, हाथ देखकर अपनी जीविका चलाते हैं। बंगाल में जुगी या जोगी कहने वाली कई जातियां हैं। योगियों का बहुत बड़ा संप्रदाय अवध, काशी, मगध और बंगाल में

फैला हुआ था। ये लोग गृहस्थ थे और पेशा जुलाहे या धुनिए का था। ब्राह्मण धर्म में इनका कोई स्थान नहीं था।'

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने बताया है कि बंगाल के रंगपुर जिले के योगियों का काम कपड़ा बुनना, रंगसाजी और चूना बनाना है। इनमें स्मरणीय महापुरुष गोरखनाथ, धीरनाथ, छायानाथ और रघुनाथ आदि हैं। इनके गुरु और पुरोहित ब्राह्मण नहीं होते बल्कि इनकी अपनी ही जाति के लोग होते हैं। इनके यहां बच्चों के कान चीरने और मृतकों की समाधि देने की परम्परा है।

हैदराबाद के दवरे और रावल भी नाथ योगियों के गृहस्थ रूप हैं। कोंकण के गोसवी भी अपने का नाथ योगियों से संबद्ध बताते हैं। इस प्रकार की योगी जातियां बरार, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक और दक्षिण भारत में भी पाई जाती हैं।

जार्ज वेस्टन ब्रिग्स ने अपनी पुस्तक 'गोरखनाथ एंड दि कनफटा योगीज' में 1891 की जनसंख्या रिपोर्ट के हवाले से बताया है कि भारतवर्ष में योगियों की संख्या 2,14,546 हैं। आगरा व अवध प्रांत में 5,319 औषड़, 28,816 गोरखनाथी और 78,387 योगी थे। इनमें बड़ी संख्या मुसलमान योगियों की है।

इसी वर्ष की पंजाब की रिपोर्ट में बताया कि मुसलमान योगियों की संख्या 38,137 है। वर्ष 1921 की जगगणना में इनकी जोगी हिंदू 6,29,978, जोगी मुसलमान 31,158 और फकीर हिंदू 1,41,132 बताई गई हैं। इस जनगणना में पुरुष और स्त्री योगियों की संख्या भी अलग-अलग बताई गई है।

बाद की जनगणना रिपोर्टों में इन लोगों का अलग से उल्लेख नहीं है। ब्रिग्स ने अपनी किताब में योगी जातियों का विस्तार से जिक्र किया है। इससे स्पष्ट होता है कि आज भी गोपीचंद और भर्तृहरि को गाने वाले मुसलमान योगी नाथपंथ से जुड़े गृहस्थ योगी हैं जो अपने को जोगी कहते हैं। इन मुसलमान जोगियों के गांव गोरखपुर, कुशीनगर, देवरिया, संतकबीर नगर, आजमगढ़ बलरामपुर में मिलते हैं लेकिन अब ये अपनी परम्परा को छोड़ रहे हैं।

मुसलमान जोगियों पर समुदाय के भीतर और समुदाय के बाहर दोनों तरफ से अपनी इस परम्परा को छोड़ने का दबाव बढ़ रहा है। सांप्रदायिक हिंसा और कटुता बढ़ने के कारण अब ये जोगी गेरूआ वस्त्र में खुद को असहज पाते हैं। उनके घरों में नौजवान मुसलमान इस कार्य को हेय दृष्टि से देखते हैं।

उनका कहना है कि यह कार्य ठीक नहीं है। वे इसे सिर्फ भीख मांगने के एक तरीके के रूप में देखते हैं। दूसरी तरफ हिंदू कट्टरपंथी संगठन इनको अपने लिए खतरा मानते हैं क्योंकि जिस दर्शन और सिद्धांत पर वे घृणा की राजनीति खड़ा करना चाहते हैं उस पर मुसलमान जोगियों की यह परम्परा बहुत गहरा चोट करती है।

वर्ष 2007 से मैंने मुसलमान जोगियों के बारे में खोजबीन शुरू की। मेरी मुलाकात एक कबीरपंथी साधु से हुई जिसने बताया कि गोरखपुर जिले के पाली ब्लाक के बड़गो गांव में मुसलमान जोगी रहते हैं। जब मैं वहां पहुंचा जो गांव के बाहर कुछ नौजवानों से मुलाकात हुई। मैंने उनसे जब जोगियों के घर के बारे में पूछा तो उन्होंने नफरत से कहा कि पता नहीं क्यों वे मुसलमान होकर गेरूवा वस्त्र पहनते हैं? हम चाहते हैं कि वे जल्दी से इस कार्य को छोड़ दें। ये सभी हिंदू युवक थे। इनमें से कुछ अपने को हिंदू युवा वाहिनी से जुड़ा बता रहे थे।

बड़गो इस गांव में 75 घर मुसलमानों के हैं जिसमें दो दर्जन मुसलमान जोगी हैं। बख्शीश इनमें से एक था। हमारी जब उससे भेंट हुई तो वह खेत में काम कर रहे थे। 35 वर्षीय बख्शीश के पिता दिलशफ़ी और ससुर अलीहसन भी जोगी हैं। बख्शीश ने अपने पिता और ससुर से भर्तृहरि और गोपीचंद के गीत तथा कबीर के भजन को गाना सीखा।

उसके पास एक बहुत पुरानी सारंगी थी जिसके आयु के बारे में उसका कहना था कि वह दो पीढ़ी पुरानी है। उसके पास खेती योग्य एक बिता भी जमीन नहीं थी। उसने कहा कि वह अब वह जोगी नहीं बने रहना चाहता क्योंकि उसकी बिरादरी के लोग इसे पसंद नहीं कर रहे हैं। जब हमने उसकी सारंगी देखनी चाही तो उसने असमर्थता जता दी।

बहुत कुरेदने पर उसने बताया कि उसकी पत्नी मायके गयी है और सारंगी को कमरे में बंद कर ताले की चाभी भी अपने साथ लेती गयी है। वह नहीं चाहती कि उसकी गैरहाजिरी में बख्शीश सारंगी लिए गीत-भजन गाते गांवों में निकल पड़े।

इस गांव के दूसरे जोगी एक शादी में गए थे इसलिए उनसे मुलाकात नहीं हो पाई। गांव के प्रधान मुख्तार अहमद भी इस बात की हिमायत कर रहे थे कि बख्शीश और दूसरे जोगियों को सारंगी बजाते हुए गांवों में गोरखनाथ की महिमा गाने की परंपरा से मुक्त हो जाना चाहिए और इसके बजाय उन्हें दूसरा काम करना चाहिए।

मुख्तार ने कहा कि वह जोगियों का जॉब कार्ड बना रहा है और वह चाहता है कि वे सारंगी छोड़ कर हाथ में फावड़े थाम लें। बख्शीश ने बहुत अनुनय-विनय करने पर उज्जैन के राजा भर्तृहरि के राज-पाट छोड़ योगी हो जाने की लोक कथा को गाकर सुनाया। जोगी गोपीचंद भर्तृहरि को गाकर सुनाने के पहले गोरखनाथ की ख्याति के बारे में पद सुनाता है जिसे वह झाप लेना कहता है—

गोरखपुर में बाबा गोरखनाथ

मगहर में संत कबीर

आजमगढ़ में बाबा भैरवनाथ

तीनों एक तपस्वी जीव
ले ल गुरु जी का नाम
इसके बाद उसने सुनाया—
जग में अमर राजा राज भर्तृहरि
छोड़े गढ़ उज्जैन का राज

बड़गों गांव के पास के गांव में कुछ जोगी रहते हैं। लोगों ने बताया कि हमीद जोगी बहुत अच्छा गाते हैं। हमें उनसे मिलना चाहिए। हमीद के घर उनकी पत्नी मिलीं। उन्होंने बताया कि हमीद को गुजरे तीन-चार वर्ष हो गए।

वह जीवन भर गोपीचन्द और भर्तृहरि की लोककथा लोगों को सुनाते रहे। उनके पास बहुत पुरानी सारंगी थी। जब बीमार पड़े और उन्हें लगा कि नहीं बचेगें तो पत्नी से कहा-इसका (सारंगी) क्या करें? आज के युग के लड़के हमारी परम्परा को आगे नहीं बढ़ाएंगें। उन्होंने अपने पट्टीदार को बुलाकर उन्हें इस उम्मीद में सारंगी दे दी कि शायद वह इस परम्परा को आगे बढ़ाए। हमीद का बेटा फेरी लगाकर बर्तन बेचता है।

लौटते वक्त रास्ते में कालू जोगी से भेंट हो गई। वह बड़गों गांव का रहने वाला था। वह जोगी बाने में सारंगी बजाते हुए बंगाल के राजा गोपीचंद के गोरखनाथ के प्रभाव में योगी बन जाने की लोककथा को गा रहा था :

केहू ना चीन्ही गोपीचंद
केहू ना चीन्ही
माई न चीन्ही
बहिना ना चीन्ही
जोगी क सुरतिया नाहीं विरना
बहिनिया नाहीं चिन्हेले

(गोपीचंद योगी हो गया है। योगी होकर वह भिक्षा मांगने घर आया है। योगी वेष में न माँ उसे पहचान पा रही है न बहन)

कालू ने मुसलमान जोगियों के कुछ और गांवों के बारे में जानकारी दी। उसने बताया कि गोरखपुर जिले में भीटी, महेशपुर, सेमरी, चैकड़ी में मुसलमान जोगी रहते हैं जो पीढ़ी दर पीढ़ी इस परम्परा को आगे बढ़ा रहे हैं।

मुसलमान जोगियों से मिलने वर्ष 2008 में हम देवरिया जिले के रूद्रपुर क्षेत्र का जगत मांझा गांव गए। यहां जोगियों के 15 परिवार हैं। गांव के बाहर सलाउद्दीन मिल गया जिसके पिता मो. शफी जोगी हैं। उसने बताया कि पिता घर पर नहीं हैं। यह पूछने पर कि क्या वह हमको गोपीचंद या भर्तृहरि का कोई गीत सुना सकता है, सलाउद्दीन चिढ़ गया। उसने कहा कि हमें यह पसंद नहीं है। हमारे लिए यह अच्छा काम नहीं है। इसलिए मैंने पिता को बाहर

काम करने के लिए भेज दिया गया है।

इसी गांव के मुसलमान जोगी कासिम उर्फ डॉ. दुर्गा बताते हैं कि उन्होंने अब आर्केस्टा शुरू कर दिया है और शादी-विवाह के मौके पर फिल्मी गीत गाते हैं। वह कहता है कि पास खेती की जमीन नहीं है। परिवार का खर्च कैसे चलाएं? कुछ तो करना पड़ता है। कासिम से कुछ सुनाने का अनुरोध करते हैं तो वह एक लड़के से सारंगी लाने को कहता है लेकिन फिर मना कर देता है।

वह पूछता है कि आप लोग कौन हैं और हमारे बारे में क्यों जानना चाहते हैं? यह बताने पर कि हम पत्रकार हैं और जोगियों की परंपरा के बारे में काम कर रहे हैं, बड़ी मुश्किल से एक गीत गाने को तैयार होता है।

जब हमने उससे जोगी वेश में सारंगी के साथ गाने की सिफारिश की तो वह नाराज हो गया और सारंगी को एक तरफ रखते हुए बोला कि आखिर हम समझ नहीं पा रहे हैं कि आप लोग ऐसा क्यों करवाना चाहते हैं। कुछ हो जाएगा तो। मैं पूछता हूँ—क्या हो जाएगा तो उसका जवाब था कि आप नहीं समझेंगे। वह कहता है कि हम गुदरी (गेरूआ रंग का यह कपड़ा जो गले से शरीर में डाला जाता है और पैर तक आता है। इस कपड़े को कंधा और चोलना भी कहा जाता है। कुछ मुसलमान जोगी पीला कंधा भी पहनते हैं) पहने बिना गाना सुना देते हैं। काफी अनुरोध के बाद उसने जोगी वेश धारण किया।

गुदरी पहनने के बाद उसने सिर पर गेरूए रंग का साफा बांधा और सारंगी बजानी शुरू की। तभी उसकी पत्नी आ गई और उसने सारंगी बजाने से रोक दिया। उसका कहना था कि वह डर रही है। कासिम ने पत्नी को आश्वासन करने के बाद सारंगी की 36 खूंटियों में बंधे 36 तारों में से कुछ तारों को कसा और गाया—

अरे राम के माई बनवा भेजवलू
भरत के देहलू राजगद्दी
बताव माई राम कहिया ले अइयन
अरे पतझर बगिया में फूलवो न फूलेला
भंवरो ने खिलेला फूलवो न फूलेला
बताव माई राम कहिया ले अइयन

(अरे माई ! आपने राम को वन भिजवा दिया और भरत को राजगद्दी दिला दी। मैं इससे दुखी हूँ। बताओ राम कब तक आएंगे। राम बिना कुछ अच्छा नहीं लग रहा है। बाग में न फूल दिख रहे हैं न भंवरे। बताओ माँ राम कब तक आएंगे)

यह गीत राम के वन जाने के बारे में है। यहां बताना जरूरी है कि जोगी अब गोपीचंद-भर्तृहरि के अलावा भजन भी गाने लगे हैं। यह श्रोताओं के फरमाइश का दबाव है। कुछ जोगी शंकर-पार्वती विवाह और रामकथा को भी गाते हैं लेकिन सभी कहते हैं कि उनके

गायन के केंद्र में गोरखनाथ, गोपीचंद और भर्तृहरि ही हैं।

फूल मोहम्मद जोगी ने गोपीचंद की माँ मैनावती का दर्द अपने गीत में बयां किया—

अरे इतना बचनिया हो माई

भर-भर माई रोयेली

फटही गुदरिया हो माई

झरि-झरि रोयेली

कौने करनिया हो बचवा

बनल तू जोगी हो

अरे जनम देहलू हो माई

अरे करम न देहलू हो माई

अरे बारह बरसवे हो बचवा बन गइल जोगी हो

अरे बड़-बड़ तपस्या हो बचवा

बड़-बड़ पूजा हो गोपीचंद

(गोपीचंद को जोगी के भेष में भिक्षा मांगते देख उसकी मां मैनावती रो रही है और उससे पूछ रही है कि क्यों वह 12 वर्ष की छोटी उम्र में जोगी हो गया है। मैने बहुत पूजा-पाठ कर और तपस्या कर उसे बेटा के रूप में पाया था। गोपीचंद अपनी मां से कहता है कि उसने उसे बेटे के रूप में जन्म तो दिया लेकिन उसका कर्म बनाने वाला तो कोई और है। मेरे कर्म में जोगी बनना लिखा था इसलिए जोगी बन गया। इसलिए तुम दुखी मत हो)

कासिम के बेटे ने भी एक गीत गाया—

हथवा लिये संरगिया

बना है राजा भिखरिया हो

गुदरिया गल में डाले भर्तृहरि

राजा भर्तृहरि बना भिखारी

राजपाट बिसराई

गोरख के अजब

तन में भस्म रमाई

राजा बना भिखरिया हो

(हाथ में सारंगी लेकर राजा भर्तृहरि भिखारी बन गया है। उसके शरीर पर गुदरी (जोगियों का कपड़ा) है। उसने राज-पाट छोड़ दिया है। बाबा गोरखनाथ के प्रभाव राजा भर्तृहरि जोगी हो गया है। उसने शरीर में भस्म लगा लिया है और घूम-घूम कर भीख मांग रहा है)

कासिम ने कहा कि माहौल खराब हो गया है। हम मुसलमान हैं लेकिन हमारे घर में कुरआन के साथ रामायण भी है। हम बाबा गोरखनाथ और उनके शिष्यों गोपीचंद, भर्तृहरि के वैरागी बन जाने की कथा लोगों को सुनाते हैं। गांवों में जब हम जाते थे तो लोग कहते थे कि जोगी आ गए। कोई हमसे नहीं पूछता कि हम हिंदू हैं या मुसलमान।

आज डर लगता है। हर जगह हिंदू-मुसलमान की बात होती है।

हम डरते हैं कि हमसे कोई यह कह न दे कि मुसलमान होकर गेरूवा रंग का गुदरी क्यों पहनता है और सारंगी पर बाबा गोरखनाथ को क्यों गाता है? कोई कुछ कहे नहीं तब भी एक डर दिल में बैठा रहता है कि कोई कुछ कह देगा। कहीं कुछ हो जाए। आज 12 वर्ष बाद हाथ में सारंगी ली है और गाया है।

मुसलमान जोगी जिस सारंगी को बजाते हैं, कहा जाता है कि उसका अविष्कार गोपीचंद ने ही किया था। गोपीचंद बंगाल के राजा मानिकचंद्र के पुत्र थे जिनका संबंध पालवंश से बताया जाता है।

डॉ. मोहन सिंह ने अपनी पुस्तक में पंजाब यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी में मौजूद कई हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर 'उदास गोपीचंद गाथा, गोरखपद' नाम से एक अंश छपा है जो गोपीचंद और उनमी मां मैनावती के संवाद के रूप में है। अधिकतर मुसलमान जोगी इसी कथा को गाते हैं। कुछ कहानियों में कहा गया है कि गोपीचंद बंगाल के राजा थे। उनकी मां मैनावती ने गोरखनाथ से दीक्षा ली थी और बेटे के राजा बन जाने पर उन्होंने ही योगी बन जाने को प्रेरित किया।

मुसलमान जोगी 'भरथरी चरित्र' की कथा को गाते हैं जो सबसे पहले दूधनाथ प्रेस हाबड़ा से छपा है। इस पुस्तक में भरथरी या भर्तृहरि को उज्जैन के राजा इंद्रसेन का पौत्र व चंद्रसेन का पुत्र बताया गया है।

राजा भर्तृहरि का विवाह सिंहल देश की राजकुमारी सामदेई से हुआ था। गोरखनाथ से मुलाकात के बाद भर्तृहरि योगी हो गए। मुसलमान जोगी जो गीत गाते हैं उसमें भर्तृहरि और सामदेई के बीच संवाद है। एक जोगी ने मुझे जो गीत सुनाया था उसमें सामदेई, भर्तृहरि को धिक्कारती हैं और कहती हैं कि योगी बन कर उसने पति धर्म का निर्वाह नहीं किया।

कुशीनगर जिले के हाटा में रहने वाले जोगी सरदार शाह ने कहा कि जोगियों के पास भर्तृहरि के जीवन चरित्र के बारे में दो किताबें हैं। 'भरथरी चरित्र' और 'भरथरी हरि'। भरथरी हरि में भरथरी की पत्नी के बतौर पिंगला दर्ज हैं। सरदार शाह भरथरी चरित्र को ही असली मानते हैं।

72 वर्षीय सरदार शाह ने बताया कि अधिकतर मुसलमान जोगी अकेले या समूह में पांच-छह महीने के लिए निकल जाते हैं और घूमते-फिरते बिहार, झारखंड, पश्चिम बंगाल तक पहुंच जाते हैं। वह खुद भी जवानी के दिनों में लंबी यात्राएं करते थे।

उन्होंने बताया कि पश्चिम बंगाल में मुसलमान जोगियों का काफी सम्मान है और लोग उन्हें गोरखनाथ की भूमि से आया बताते हुए खूब दान देते हैं। शाह सरकार की उपेक्षा से दुखी हैं और तीखा व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि बलमुआ टाइप का गीत गाने वाले हीरो

बन रहे हैं लेकिन हम जैसे कलाकारों की कोई पूछ नहीं है।

सरदार शाह के बेटे और पौत्र, उनकी कला साधना से दूर हैं। बेटा टैक्सी चलाता है और उसकी सारंगी और गोपीचंद-भर्तहरि कथा गायन में कोई रूचि नहीं हैं। वह सरदार शाह को भी यह सब छोड़ देने के लिए कहता है लेकिन उनका कहना है कि जब तक जिंदगी है वह कलाकार बने रहेंगे।

पहले मुसलमान जोगी गोरखनाथ मंदिर जाते थे और भंडारे में भाग लेते थे लेकिन अब उनका मंदिर से रिश्ता उतना जीवंत नहीं है। वर्ष 1935 में दिग्विजयनाथ के महंत बनने के बाद गोरखनाथ मंदिर हिंदुत्व की राजनीति का केंद्र हो गया जिसको उनके बाद के महंत अवैद्यनाथ और फिर योगी आदित्यनाथ ने और आगे बढ़ाया। ऐसे में मुसलमान जोगियों का नाथ सम्प्रदाय की सबसे बड़ी पीठ से संबंध और संपर्क कमजोर होना स्वभाविक ही था।

नाथ संप्रदाय और गोरखनाथ—नाथ संप्रदाय की स्थापना आदिनाथ भगवान शिव द्वारा मानी जाती है। आदिनाथ शिव से मत्स्येन्द्रनाथ ने ज्ञान प्राप्त किया। मत्स्येन्द्र नाथ के शिष्य गोरखनाथ हुए।

गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित बारह पंथी मार्ग नाथ संप्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस संप्रदाय के साधक अपने नाम के आगे नाथ शब्द जोड़ते हैं। कान छिदवाने के कारण इन्हे कनफटा, दर्शन कुंडल धारण करने के कारण दरशनी और गोरखनाथ के अनुयायी होने के कारण गोरखनाथी भी कहा जाता है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि गोरखनाथ के बारे में ऐतिहासिक कही जाने वाली बातें बहुत कम रह गईं। दंतकथाएं केवल उनके और उनके द्वारा प्रवर्तित योगमार्ग के महत्व प्रचार के अतिरिक्त कोई विशेष जानकारी नहीं देती।

वे कहते हैं कि गोरखनाथ के समय में समाज में बड़ी उथल-पुथल थी। मुसलमानों का आगमन हो रहा था। बौद्ध साधना मंत्र-तंत्र, टोने-टोटके की ओर अग्रसर हो रही थी। ब्राह्मण धर्म की प्रधानता स्थापित हो गई थी फिर भी बौद्धों, शाक्तों और शैवों का एक भारी संप्रदाय था जो ब्राह्मण और वेद की प्रधानता को नहीं मानता था। गोरखनाथ के योग मार्ग में ऐसे अनेक मार्गों का संघटन हुआ। इन संप्रदायों में मुसलमान जोगी अधिक थे।

गोरखनाथ ने ब्राह्मणवाद, बौद्ध परम्परा में अतिभोगवाद व सहजयान में आई विकृतियों के खिलाफ विद्रोह किया। उन्होंने हिंदू-मुसलमान एकता की नींव रखी और ऊंच-नीच, भेदभाव, आडम्बरों का विरोध किया। यही कारण है कि नाथ सम्प्रदाय में बड़ी संख्या में सनातन धर्म से अलगाव के शिकार अस्पृश्य जातियां इसमें शामिल हुईं। नाथपंथियों में वर्णाश्रम व्यवस्था से विद्रोह करने वाले सबसे अधिक थे। हिंदू और मुसलमान दोनों धर्मों के लोग बल्कि कहीं-

कहीं तो मुसलमान बड़ी संख्या में नाथ संप्रदाय में शामिल हुए।

डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थवाल ने गोरखनाथ द्वारा रचित 40 पुस्तकों की खोज की जिसमें अधिकतर संस्कृत में हैं। कुछ पुस्तकें हिंदी में हैं। डॉ. बड़थवाल ने गोरखनाथ की सबदियों को 'गोरखबानी' में संग्रहीत और संपादित किया। गोरखनाथ के संस्कृत ग्रंथ जहां साधना मार्ग की व्याख्या है वहीं उनके पद और सबदी में साधना मार्ग की व्याख्या के साथ-साथ धार्मिक विश्वास, दार्शनिक मत हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार गोरखनाथ की हिंदी की रचनाएं दो संतों के संवाद के रूप में हैं जो नाथपंथियों की अपनी खोज हैं। 'मच्छिन्द्र गोरखबोध' में गोरखनाथ के सवाल हैं जिसका जवाब उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने दिया है।

गोरखनाथ का प्रभाव निर्गुण संतो कबीर, दादू और सूफी कवियों मुल्ला दाउद, जायसी पर खूब पड़ा। गोरखवाणी पर ओशो ने खूब प्रवचन दिया है जो आडियो व लिखित रूप में उपलब्ध है।

ओशो कहते हैं कि महाकवि सुमित्रानंदन पंत ने उनसे एक बार पूछा कि भारत के धर्माकाश में वे कौन से 12 लोग हैं जो सबसे चमकते सितारे हैं। ओशो ने कृष्ण, पतंजलि, बुद्ध, महावीर, नागार्जुन, शंकर, गोरख, कबीर, नानक, मीरा, रामकृष्ण का नाम लिया।

सुमित्रानंदन पंत ने ओशो से इनमें से सात, फिर पांच और बाद में चार के नाम लेने को कहा तो ओशो ने कहा कि कृष्ण, पतंजलि, बुद्ध और गोरखनाथ। फिर पंत ने कहा कि यह सूची में से सिर्फ तीन व्यक्ति चुने तो ओशो ने जवाब दिया कि इन चार में से मैं किसी को छोड़ न सकूंगा। पंत का फिर सवाल था कि आप गोरख को क्यों नहीं छोड़ सकते। ओशो ने कहा कि मैं गोरख को नहीं छोड़ सकता क्योंकि गोरखनाथ से इस देश में एक नया सूत्रपात हुआ। उनसे एक नए प्रकार के धर्म का जन्म हुआ। गोरख के बिना न कबीर हो सकते हैं न नानक। न दादू, न वाजिद, न फरीद, न मीरा। भारत की सारी संत परम्परा गोरख की ऋणी है। गोरख ने जितना अविष्कार मनुष्य के भीतर अंतर-खोज के लिए किया उतना शायद किसी ने नहीं की।

उनकी मूल शिक्षा इस सबदी में है—

हसिबा खेलिबा रहिबा रंग
काम क्रोध न करिबा संग
हसिबा खेलिबा गाइबा गीत
दिढ करि राखि अपना चीत
हसिबा खेलिबा धरिबा ध्यान
अहनिसि कथिबा ब्रह्म गियान
हसै-खेलै न करै मन भंग
ते निहचल सदा नाथ के संग।

साभार : द वायर

फर्जी प्रमाणपत्र के सहारे दलित और आदिवासियों के अधिकार पर डाका

■ सुभाष गाताडे



मध्य प्रदेश के बैतूल से अनुसूचित जनजाति के लिए आरक्षित सीट से दूसरी बार चुनी गई सांसद ज्योति धुर्वे की सदस्यता फिलवक्त खतरे में पड़ती नज़र आ रही है।

पिछले दिनों मध्य प्रदेश सरकार की उच्चस्तरीय जांच कमेटी ने सघन जांच के बाद उनके द्वारा प्रस्तुत किए जाति प्रमाण पत्र को खारिज़ कर दिया।

खबरों के मुताबिक अपने जाति प्रमाण पत्र की कथित संदिग्धता के चलते धुर्वे तभी से विवादों में रही हैं जब 2009 में वह पहली दफ़ा वहां से सांसद चुनी गई थीं। यह आरोप लगाया गया था कि वह गैर आदिवासी समुदाय से संबद्ध हैं और उन्होंने फर्जी जाति प्रमाण पत्र जमा किया है।

इस मसले को लेकर मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय के सामने एक केस दायर किया गया है और अदालत के आदेश पर ही उपरोक्त जांच पूरी की गई है।

गौरतलब था कि जांच के दौरान पाया गया कि उनका जाति प्रमाण पत्र वर्ष 1984 में रायपुर से जारी हुआ था, मगर जब कमेटी ने इस बारे में कुछ और प्रमाणों की मांग की तो सांसद महोदया उन्हें कमेटी के सामने प्रस्तुत नहीं कर सकी।

कमेटी ने यह फैसला एकमत से लिया है और इसके बाद सांसद महोदया के खिलाफ़ कार्रवाई की मांग उठी है। विपक्ष का कहना है

कि यह मसला 2009 से सुर्खियों में रहने के बावजूद राजनीतिक दबाव के चलते इस पर फैसला नहीं लिया गया था।

बहरहाल, ज्योति धुर्वे के बहाने फिर एक बार फर्जी जाति प्रमाण पत्रों का मसला चर्चा में आया है।

मध्य प्रदेश के ही थांदला नगर परिषद की अध्यक्ष चम्पा उर्फ सुनीता को मार्च 2016 के मध्य में न केवल अपने पद से हटाया गया बल्कि उनके द्वारा जमा किए गए वसावा नामक जाति के प्रमाण पत्र को लेकर (जो जाति मध्य प्रदेश में अनुसूचित जनजाति में शुमार नहीं है) उसके खिलाफ़ धोखाधड़ी का मुकदमा भी क़ायम हो गया।

इसके लिए उन्हें तीन से सात साल तक की जेल हो सकती है।

रेखांकित करने वाली बात है कि मुश्किल से दस माह पहले मध्य प्रदेश में इसी किस्म के एक अन्य घोटाले का पर्दाफाश हुआ था (भास्कर, जुलाई 31, 2016)। जिसमें आदिवासी विकास विभाग को बड़ी तादाद में अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के जाली सर्टिफिकेट के उपयोग की शिकायत मिली थी जिसके चलते विभाग ने जाति प्रमाण पत्रों की जांच का ज़िम्मा छानबीन समिति को सौंपा था।

समिति ने वर्ष 1998 से लेकर 2015 तक 378 प्रकरणों की जांच की था। गौरतलब था कि उसे अधिकांश मामलों में जाति प्रमाण पत्र फर्जी मिले।

इस पर उसने कार्रवाई करते हुए उन प्रमाण पत्रों को निरस्त कर दिया बल्कि आगे कार्रवाई की भी सिफारिश की। मालूम हो कि इन दस्तावेजों की सहायता से कई लोग सरकारी नौकरी में भी हासिल कर चुके थे और कई प्रमोशन भी ले चुके थे।

अभी पिछले ही साल मुंबई में राज्य के मंत्रालय से रिटायर कर्मचारी सदानंद गावित का नाम अचानक सुर्खियों में आया, जिन्होंने समय पर दी गई चेतावनी के चलते महाराष्ट्र के विभिन्न मेडिकल कॉलेजों में आदिवासी कोटे के तहत एडमिशन लिए 17 मामलों का पर्दाफाश हुआ था जिसे देश का सबसे बड़ा 'मेडिकल एडमिशन स्कैम' कहा गया था।

अनुसूचित जनजाति के तहत प्रवेश लिए इन छात्रों के नामों को देखकर—मिसाल के तौर पर गांधी, खान, पुरोहित, मंसूरी— जो वेरिफिकेशन के लिए आए थे, उनका कौतूहल जागा और फिर जांच शुरू हुई।

गौरतलब है कि अनुसूचित तबकों के कल्याण के लिए बनी संसद की स्थायी समिति की रिपोर्ट हो या सर्वोच्च न्यायालय का इन मामलों में हस्तक्षेप हो या कहीं लोगों के दबाव के चलते दिखाई देती सरकारों की सक्रियता हो, आए दिन ऐसे मसले चर्चा में आते रहते हैं।

आज से ठीक दस साल पहले की बात है हरियाणा में पुलिस अधीक्षक के तौर पर तैनात एक अफसर (संजय भाटिया) का मामला भी खूब तूल पकड़ा था। उपरोक्त शख्स को भारतीय दंड विधान की धारा 420 के तहत सजा भी सुना दी गई थी।

उस पर यह आरोप प्रमाणित हो चुका था कि भारतीय पुलिस सेवा में भर्ती होने के लिए राजपूत परिवार में पैदा उस शख्स ने दिल्ली के उप-आयुक्त के दफ्तर से उसने 'आदिधर्मी' होने का प्रमाण पत्र हासिल कर अपने आप को अनुसूचित जाति के तौर पर पेश किया था।

प्रस्तुत मामले में भी 17 साल से अधिक वक्त चले मुकदमे के बाद ही फैसला सामने आया था। इतना ही नहीं अनुसूचित जाति जनजाति कमीशन की रिपोर्टों का सवाल है, (ध्यान रहे पहले दोनों अनुसूचित तबकों के लिए एक ही आयोग था, जो अब अलग-अलग हो गया है) वह जाति संबंधी 'झूठे प्रमाण पत्रों की' समस्या पर बार-बार रोशनी डालती रही हैं।

इसकी दो रिपोर्टों में तो इस पर एक अलग अध्याय भी जोड़ा गया था। इसमें उल्लेख किया गया था कि झूठे प्रमाण पत्रों

की समस्या के व्यापक प्रसार से चिंतित होकर कमीशन ने वर्ष 1996 में कई राज्यों में विशेष तथ्य संग्रह किया था।

तमिलनाडु में 12 केंद्रीय संगठनों की ऐसी जांच में यह पाया गया कि वहां पर अनुसूचित जनजाति का झूठा प्रमाण पत्र जमा करके 338 लोगों ने नौकरियां पायी हैं।

कमीशन की सख्त कार्रवाई के बावजूद इनमें से सिर्फ छह लोगों को 'काफी विलम्ब' के बाद नौकरी से बर्खास्त किया गया। बाकी तमाम लोगों ने अपनी बर्खास्तगी को रोकने के लिए स्थानीय अदालतों की शरण ली तथा अपने लिए स्थगनादेश हासिल किया।

इसी संदर्भ में ओडिशा के सवर्ण 'डोरा' जाति से संबद्ध लोगों के रातोंरात 'कोण्डाडोरा' नामक अनुसूचित जनजाति में रूपांतरण और इसी आधार पर सूबे की नौकरशाही तक उनकी बढ़ती पहुंच किसी को मशहूर यूरोपीय उपन्यासकार काफ्का के 'मेटामॉर्फोसिस' की याद दिला सकती है।

कोई यह जानने के लिए बेचैन हो सकता है कि ऐसा कैसे मुमकिन हो सकता है? निश्चित ही इसे मुमकिन बनाना हो तो एक अदद जाति प्रमाण पत्र की आवश्यकता होती है।

अनुसूचित जाति-जनजाति के कल्याण के लिए संसद की स्थायी समिति की 29वीं रिपोर्ट ने इसी हकीकत को रेखांकित किया था।

रतिलाल कालिदास वर्मा की अगुआई में कायम प्रस्तुत कमेटी ने इन प्रमाण पत्रों को जारी करने में बरती जा रही गंभीर खामियों पर चिंता जाहिर की थी।

कमेटी का यह भी कहना था कि ऐसे फर्जी दलितों या नकली आदिवासियों ने आईएएस जैसे शीर्ष पदों पर भी कब्जा जमाया है। उसके मुताबिक, 'इस वजह से अनुसूचित जाति और जनजाति के वास्तविक हकदारों को रोजगार, शिक्षण संस्थानों और सरकारी योजनाओं में वाजिब हक नहीं मिल रहा है। यह सीधे-सीधे अपराध है।'

प्रश्न उठता है कि इस मसले पर न्यायपालिका, कार्यपालिका के सचेत होने के बावजूद यह सिलसिला अभी तक बेधड़क क्यों चल रहा है?

जहां संविधानप्रदत्त अधिकारों के तहत पैदा किए गए अवसरों पर नकली आदिवासी और फर्जी दलित आदिवासियों को बिठाने के लिए फर्जी जाति प्रमाण पत्रों की परिघटना सर्वव्यापी हो गई दिखती है, जिसमें व्यक्तिगत पहल अधिक नज़र आती है, वहीं हाल के समय में ऐसे तमाम मामले सामने आए हैं, जिसमें संस्थागत तौर पर इसे अंजाम दिया जाता दिखता है।

इसके तहत शिक्षा संस्थान अनुसूचित तबकों के छात्रों की सहायता के लिए सरकार की योजनाओं का लाभ उठाने के लिए ऐसे छात्रों की फर्जी सूची जमा करते हैं और सरकार की तरफ से मिलने वाली राशि सीधी हड़प लेते दिखते हैं, जिसके लिए उन्होंने फर्जी खाते भी खोले हैं।

पिछले साल सहारनपुर पुलिस ने समाज कल्याण विभाग द्वारा दायर शिकायत का संज्ञान लेते हुए 32 प्राइवेट कालेजों के खिलाफ प्रथम सूचना रिपोर्ट दायर की।

समाज कल्याण विभाग के मुताबिक इन कालेजों ने अनुसूचित जाति की श्रेणी के विद्यार्थियों के नाम पर दी जा रही 125 करोड़ रुपये की स्कॉलरशिप हड़प ली (टाइम्स ऑफ इंडिया, 25 जून 2016)।

इस घोटाले की व्यापकता इतनी बड़ी थी कि कुछ कॉलेजों ने उनके सभी छात्रों को अनुसूचित श्रेणी का घोषित किया था। गौरतलब है कि जांच टीम ने ऐसे 13 कॉलेजों की पहचान भी की जिन्होंने अपने विद्यार्थियों को नकली मार्कशीट के आधार पर प्रवेश दिया था।

इस कांड के खुलासे के कुछ वक्त पहले पता चला था कि केंद्र सरकार की तरफ से अनुसूचित तबकों के छात्रों के लिए जो स्कॉलरशिप और अन्य सुविधाएं मिलती हैं उसका लगभग आधा हिस्सा धोखाधड़ी व फरेब के जरिये शिक्षा संस्थानों के माफिया सरकार में तैनात अधिकारियों की मिलीभगत से हड़प लेते हैं (डीएनए, 7 मई 2016)।

केंद्र सरकार द्वारा प्रायोजित पोस्ट मैट्रिक स्कॉलरशिप और फ्रीशिप योजनाओं में अनियमितताओं को लेकर एक स्पेशल टास्क फोर्स द्वारा चल रही जांच में—जिसे अतिरिक्त डायरेक्टर जनरल ऑफ पुलिस की अगुआई में संचालित किया गया था—जिसका फोकस सूबा महाराष्ट्र था, यही बात उजागर हुई थी।

गौरतलब है कि जांच में पता चला कि कई कॉलेजों ने न केवल फर्जी छात्र प्रस्तुत किए बल्कि कई बार बढ़े हुए दर से बिल भी पेश किए और पैसे बटोरे गए।

इस संदर्भ में बुलढाना और नंदुरबार जिले के दो दर्जन से अधिक प्राइवेट कॉलेजों के खिलाफ कार्रवाई की भी सिफारिश टास्क फोर्स ने की।

इतना ही नहीं अनुसूचित तबकों के छात्रों को दी जा रही छात्रवृत्ति को जारी करने में देरी के जरिये भी छात्रों के भविष्य को खतरे में डाला जा सकता गया है।

राज्यसभा में शून्यकाल में इसी मसले को पंजाब के (बसपा) सांसद ने उठाकर सदन का ध्यान इसकी तरफ खींचने

की कोशिश की थी।

उनका कहना था कि संविधान के अंतर्गत अनुसूचित तबकों को दिए गए आरक्षण के बावजूद समय पर छात्रवृत्ति न मिलने से इन तबकों के विद्यार्थियों की पढ़ाई बाधित होती है।

यहां तक कि समय पर जाति प्रमाण पत्र जारी न करके भी दलित-आदिवासी अधिकारों पर कुठाराघात करने की कोशिश चलती रहती है।

पांच साल पहले महाराष्ट्र के समाज कल्याण महकमे के कर्मचारियों की आपराधिक लापरवाही के चलते नागपुर क्षेत्र में अनुसूचित जाति, जनजाति और अन्य पिछड़ी वर्ग से आने वाले दस हजार से अधिक छात्र अपने पसंद के प्रोफेशनल पाठ्यक्रमों में प्रवेश नहीं ले सके थे? (टाइम्स ऑफ इंडिया, 22 जून 2012, गवर्मेंट एपथी मे डिप्राइव एससी एसटी स्टुडेंट्स ऑफ कॉलेज एडमिशन) और शासकीय कालेजों में उनके प्रवेश को महज इसी वजह से रोका गया था क्योंकि उनके पास जाति वैधता प्रमाण पत्र नहीं थे, जबकि इस संबंध में इन तमाम छात्रों ने साल भर पहले ही आवेदन पत्रा जमा किए थे?

ग्राहकों के हकों के संरक्षण के लिए संघर्षरत एक कार्यकर्ता के मुताबिक इसके पीछे निजी इंजीनियरिंग-मेडिकल कॉलेजों की समाज कल्याण विभाग के साथ मिलीभगत भी दिखाई दी थी।

ज़ाहिर था कि आरक्षित तबके के इन छात्रों को जाति वैधता प्रमाण पत्र समय पर नहीं मिलने से कइयों को खुली श्रेणी में प्रवेश लेना पड़ा और फिर निजी कॉलेजों ने उनसे भारी फीस वसूली थी।

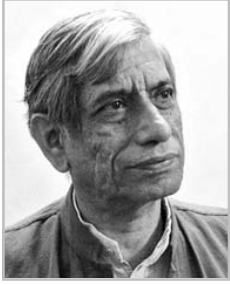
छात्रवृत्ति का गबन हो, उसे जारी करने में की जाने वाली देरी हो या जाति प्रमाण पत्रों के जारी करने में की जाने वाली देरी हो या फर्जी जाति प्रमाण पत्रों की विकराल होती परिघटना हो, इसे विडंबना ही कहा जाएगा कि संविधान में प्रदत्त तमाम अधिकारों के बावजूद या सदियों से सामाजिक तौर पर उत्पीड़ित रहे तबकों के लिए अपनायी जाने वाली सकारात्मक विभेद की योजनाओं के बावजूद वंचित तबकों से आने वाले लोगों के साथ आज भी विभिन्न स्तरों पर छल जारी है।

आजादी की 70वीं सालगिरह हम लोगों ने हाल में ही मनाई। आखिर और कितने स्वतंत्रता दिवसों का हमें इंतज़ार करना पड़ेगा ताकि संविधान की मूल भावना के अनुरूप सभी के साथ समान सलूक हो सके और दलित-आदिवासियों को भेदभाव से आजादी मिल सके।

(लेखक सामाजिक कार्यकर्ता और चिंतक हैं)

रावण सुनाए रामायण

■ अनुपम मिश्र



सनातन धर्म से भी पुराना एक और धर्म है। वह है नदी धर्म। गंगा को बचाने की कोशिश में लगे लोगों को पहले इस धर्म को मानना पड़ेगा।

बिलकुल अलग-अलग बातें हैं। प्रकृति का कैलेंडर और हमारे घर-दफ्तरों की दीवारों पर टंगे कैलेंडर/काल निर्णय/पंचांग को याद करें बिलकुल अलग-अलग बातें हैं। हमारे कैलेंडर/संवत्सर के पन्ने एक वर्ष में बारह बार पलट जाते हैं। पर प्रकृति का कैलेंडर कुछ हजार नहीं, लाख करोड़ वर्ष में एकाध पन्ना पलटता है। आज हम गंगा नदी पर बात करने यहां जमा हुए हैं तो हमें प्रकृति का, भूगोल का यह कैलेंडर भूलना नहीं चाहिए। पर करोड़ों बरस के इस कैलेंडर को याद रखने का यह मतलब नहीं कि हम हमारा आज का कर्तव्य भूल बैठें। वह तो सामने रहना ही चाहिए।

गंगा मैली हुई है। उसे साफ करना है। सफाई की अनेक योजनाएं पहले भी बनी हैं। कुछ अरब रुपए इसमें बह चुके हैं—बिना कोई परिणाम दिए। इसलिए केवल भावनाओं में बह कर हम फिर ऐसा कोई काम न करें कि इस बार भी अरबों रुपयों की योजनाएं बनें और गंगा जस की तस गंदी ही रह जाए।

बेटे-बेटियां जिद्दी हो सकते हैं। कुपुत्र-कुपुत्री हो सकते हैं पर अपने यहां प्रायः यही तो माना जाता है कि माता, कुमाता नहीं होती, तो जरा सोचें कि जिस गंगा माँ के बेटे-बेटी उसे स्वच्छ बनाने के लिए कोई 30-40 वर्ष से प्रयत्न कर रहे हैं—वह साफ क्यों नहीं होती। क्या इतनी जिद्दी है हमारी यह माँ।

साधु-संत समाज, हर राजनैतिक दल, सामाजिक संस्थाएं, वैज्ञानिक समुदाय, गंगा प्राधिकरण और तो और विश्व बैंक जैसा बड़ा महाजन भी गंगा को तन-मन-धन से साफ करना चाहते हों और यह मां ऐसी कि साफ ही नहीं होती। तो शायद हमें

थोड़ा रुक कर कुछ धीरज के साथ इस गुत्थी को समझना चाहिए।

अच्छा हो या बुरा हो—हर युग का एक विचार, एक झंडा होता है। उसका रंग इतना जादुई इतना चोखा होता है कि वह हर रंग के झंडों पर चढ़ जाता है। तिरंगा, लाल, दुरंगा और भगवा सब उसको नमस्कार करते हैं, उसका गान गाते हैं। उस युग के, उस दौर के करीब-करीब सभी मुखर लोग, मौन लोग भी उसे एक मजबूत विचार की तरह अपना लेते हैं। कुछ समझ कर, कुछ बिना समझे भी। तो इस युग को, पिछले कोई 60-70 बरस को विकास का युग माना जाता है। जिसे देखो उसे अपना यह देश पिछड़ा लगने लगा है और वह पूरी निष्ठा के साथ इसका विकास कर दिखाना चाहती है। विकास पुरुष जैसे विश्लेषण सभी समुदायों में बड़े अच्छे लगते हैं।

वापस गंगा पर लौटें। पौराणिक कथाएं और भौगोलिक तथ्य दोनों ही कुल मिलाकर यही बात बताते हैं कि गंगा अपौरुषेय है। इसे किसी एक पुरुष ने नहीं बनाया। अनेक संयोग बने और गंगा अवतरण हुआ, जन्म नहीं। भूगोल, भूगर्भ शास्त्र बताता है कि इसका जन्म हिमालय के जन्म से जुड़ा है—कोई दो करोड़, तीस लाख बरस पुरानी हलचल से। इसके साथ एक बार फिर अपनी दीवारों पर टंगे कैलेंडर याद कर ले—अभी तक 2013 बरस हुए हैं।

इस विशाल समय अवधि का विस्तार अभी हम भूल जाएं, इतना ही देखें कि प्रकृति ने गंगा को सदाने का बनाए रखने के लिए इसे अपनी कृपा का केवल एक प्रकार—यानि वर्षा भर से नहीं जोड़ा था। वर्षा तो चार मास होती है। बाकी आठ मास इसमें पानी लगातार कैसे बहे, कैसे रहे, इसके लिए प्रकृति ने उदारता का एक और रूप गंगा को भेंट किया

था—नदी का संयोग हिमनद से करवाया। जल को हिम से मिलाया। तभी ये सदानीरा बन सकी। आज के इस बैठक का नाम गंगा शिखर सम्मेलन रखा गया है, इसलिए यह भी ध्यान दिला दूं कि प्रकृति ने गंगोत्री और गोमुख स्थान हिमालय में इतनी अधिक ऊंचाई पर, इतने ऊंचे शिखर पर रखा कि वहां कभी हिम पिघल कर समाप्त नहीं हो सके। जब वर्षा समाप्त हो जाए तो हिम, बर्फ पिघल-पिघल कर गंगा की धारा अविरल रहे।

तो हमारे समाज ने गंगा को माँ माना और ठेठ संस्कृत से लेकर भोजपुरी तक में ढेर सारे श्लोक मंत्र, गीत, सरस, सरल साहित्य रचा। समाज ने अपना पूरा धर्म उसकी रक्षा में लगा दिया। इस धर्म ने यह भी ध्यान रखा कि हमारे धर्म, सनातन धर्म से भी पुराना एक और धर्म है। वह है नदी धर्म। नदी अपने उद्गम से मुहाने तक एक धर्म का, एक रास्ते का, एक घाटी का, एक बहाव का पालन करती है। हम नदी धर्म को अलग से इसलिए नहीं पहचान पाते क्योंकि अब तक हमारी परंपरा तो उसी नदी धर्म से अपना धर्म जोड़े रखती थी।

पर फिर न जाने कब विकास नाम के एक नए धर्म का झंडा सबसे ऊपर लहराने लगा। यह प्रसंग थोड़ा अप्रिय लगेगा पर यहां कहना ही पड़ेगा कि इस झंडे के नीचे हर नदी पर बड़े-बड़े बांध बनने लगे। एक नदी घाटी का पानी नदी धर्म के सारे अनुशासन तोड़ दूसरी घाटी में ले जाने की बड़ी-बड़ी योजनाओं पर नितांत भिन्न विचारों के राजनैतिक दलों में भी गजब की सर्वानुमति दिखने लगती है। अनेक राज्यों में बहने वाली भागीरथी, गंगा, नर्मदा इस झंडे के नीचे आते ही अचानक माँ के बदले किसी न किसी राज्य की जीवन रेखा बन जाती हैं और फिर उसका इस राज्य में बन रहे बांधों को लेकर वातावरण में, समाज में इतना तनाव बढ़ जाता है कि फिर कोई संवाद, स्वस्थ बातचीत की गुंजाईश ही नहीं बच पाती। दो राज्यों में एक ही राजनीतिक दल की सत्ता हो तो भी बांध, पानी का बंटवारा ऐसे झगड़े पैदा करता है कि महाभारत भी छोटा पड़ जाए। सब बड़े लोग, सत्ता में आने वाला हर दल, हर नेतृत्व बांध से बंध जाता है। हरेक को नदी जोड़ना एक जरूरी काम लगने लगता है। वह यह भूल जाता है कि प्रकृति जरूरत पड़ने पर नदियां जोड़ती है। इसके लिए वह कुछ हजार-लाख बरस तपस्या करती है, तब जाकर गंगा-यमुना इलाहाबाद में मिलती हैं। कृतज्ञ समाज तब उस स्थान को तीर्थ मानता है। मुहने पर प्रकृति नदी को न जाने कितनी धाराओं में तोड़ भी देती है। बिना तोड़े नदी का संगम, मिलन सागर से हो नहीं सकता।

तो नदी में से साफ पानी जगह-जगह बांध, नहर बना कर निकालते जाएं-सिंचाई, बिजली बनाने और उद्योग चलाने के लिए,

विकास करने के लिए। अब बचा पानी तेजी से बढ़ते बड़े शहरों, राजधानियों के लिए बड़ी-बड़ी पाईप लाईन में डाल कर चुराते जाएं। यह भी नहीं भूलें कि अभी 30-40 बरस पहले तक इन सभी शहरों में अनगिनत छोटे-बड़े तालाब हुआ करते थे। ये तालाब चौमासे की वर्षा को अपने में संभालते थे और शहरी क्षेत्र की बाढ़ को रोकते थे और वहां का भूजल उठाते थे। यह ऊंचा उठा भूजल फिर आने वाले आठ महीने शहरों की प्यास बुझाता था। अब इन सब जगहों पर ज़मीन की कीमत आसमान छू रही है। बिल्डर-नेता-अधिकारी मिलजुल कर पूरे देश के सारे तालाब मिटा रहे हैं। महाराष्ट्र में अभी कल तक 50 वर्षों का सबसे बुरा अकाल था और आज उसी महाराष्ट्र के पुणे, मुम्बई में एक ही दिन की वर्षा में बाढ़ आ गई है। इंद्र का एक सुंदर पुराना नाम, एक पर्यायवाची शब्द है पुरंदर—पुरों को, किलों को, शहरों को तोड़ने वाला। यानि यदि हमारे शहर इंद्र से मित्रता कर उसका पानी रोकना नहीं जानते तो फिर वह पानी बाढ़ की तरह हमारे शहरों को नष्ट करेगा ही। यह पानी बह गया तो फिर गर्मी में अकाल भी आएगा ही।

वापस गंगा लौटें। उत्तराखंड की बाढ़ की, गंगा की बाढ़ की टीवी पर चल रही खबरों को याद करें। नदी के धर्म को भूल कर हमने अपने अहम के प्रदर्शन के लिए बनाए तरह-तरह के भेदे मंदिर, धर्मशालाएं बनाई, नदी का धर्म सोचे बिना। यह बाढ़ मूर्तियां आदि सब कुछ गंगा अपने साथ बहा ले गई।

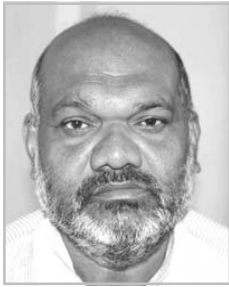
तो नदी से सारा पानी विकास के नाम पर निकालते रहे, ज़मीन की कीमत के नाम पर तालाब मिटाते जाएं और फिर सारे शहरों, खेतों की सारी गंदगी, जहर नदी में मिलाते जाएं और फिर सोचें कि अब कोई नई योजना बनाकर हम नदी भी साफ कर लेंगे। नदी ही नहीं बची। गंदा नाला बनी नदी साफ होने से रही। भरूच में जाकर देखिए रसायन उद्योग विकास के नाम पर नर्मदा को किस तरह बर्बाद किया है। नदियां ऐसे साफ नहीं होंगी। हम हर बार निराश ही होंगे।

तो आशा नहीं बची? नहीं ऐसा नहीं। आशा है पर तब जब हम फिर से नदी धर्म ठीक से समझ सकें। विकास की हमारी आज जो इच्छा है उसकी ठीक जांच कर सकें। बिना कटुता के। गंगा को, हिमालय को कोई चुपचाप षड्यंत्र करके नहीं मार रहा। ये तो सब हमारे ही लोग हैं। विकास, जीडीपी, नदी जोड़ो, बड़े बांध सब कुछ हो रहा है—या तो यह पक्ष करता है या तो वह पक्ष। विकास के इस झंडे के तले पक्ष-विपक्ष का भेद समाप्त हो जाता है। मराठी में एक सुंदर कहावत है : रावणा तौंडी रामायण। रावण खुद बखान कर रहा है रामायण की कथा। हम ऐसे रावण न बनें।

साभार : <http://hindi.indiawaterportal.org>

आज भी प्रासंगिक हैं ग्राम सभाएं

■ घनश्याम



आज 21 वीं सदी के प्रथम चरण में भी भारत गांवों का देश है। आज भी लगभग दो-तिहाई से ज्यादा लोग गांव में बसते हैं। कथित विकास की तमाम प्रक्रियाओं के बावजूद इतने लोगों का गांव में बसना इस बात का परिचायक है कि भारत की आत्मा गांवों में बसती है। इसलिए हमारे नीति-नियंताओं ने संविधान सभा में बार-बार गांव को मजबूत करने की बात कही है। संविधान सभा में मरांग गोमके जयपाल सिंह ने गांव के हित में वकालत करते हुए इसे लोकतंत्र की बुनियाद बताया था। परिणामतः संविधान में 5वीं अनुसूची की व्यवस्था की गई जिसका आधार बना गांव। खासकर आदिवासी गांव।

आज गांव के बुनियादी संगठन का नाम 'ग्राम सभा' है। 73वें संविधान संशोधन में और पंचायत राज विस्तार अधिनियम, जिसे 'पेसा' कहा जाता है, के तहत ग्राम सभा को बुनियादी आधार माना गया है।

'पेसा कानून' पांचवीं अनुसूची क्षेत्र के लिए एक महत्वपूर्ण कानूनी व्यवस्था है। इसको बने हुए 20 वर्ष बीत गए। लेकिन संबंधित रूल्स कई राज्यों में अब तक नहीं बने हैं। अद्यतन जानकारी के अनुसार महज 4 राज्यों ने पेसा के रूल्स बनाए हैं। आंध्र प्रदेश, राजस्थान, हिमाचल और महाराष्ट्र ने इससे संबंधित रूल्स बनाए हैं। झारखंड सरकार ने इसको लेकर एक समिति बनाई, जिसने रूल्स से संबंधित एक प्रस्ताव जारी किया है। आखिर इस कानून के प्रति संबंधित राज्यों में इतनी उदासीनता क्यों? इसे गंभीरता से समझने की जरूरत है।

'पांचवीं अनुसूची' भारत के संविधान के भीतर महत्वपूर्ण प्रावधान है। इसका प्रयोग सही ढंग से किया गया होता तो आदिवासी इलाकों की तस्वीर बदल सकती थी। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। क्योंकि आजाद भारत की सरकार को चाहिए था विकास। इस विकास के लिए जो संसाधन चाहिए थे उस पर बैठे थे आदिवासी। प्राकृतिक धरोहर (जल, जंगल, जमीन और खनिज) लगभग वहीं हैं जहां आदिवासी बसे हैं। और यह प्रावधान (पांचवीं अनुसूची) कहता है कि किसी भी तरह का विकास बिना

आदिवासी समुदाय को पूछे नहीं हो सकता। इसके लिए इसमें ट्राइब्स एडवाइजरी काउंसिल की व्यवस्था की गई है। इतना ही नहीं संबंधित राज्यों के राज्यपालों को पांचवीं अनुसूची का 'कस्टोडियन' बनाया गया है। बावजूद इसके प्राकृतिक संपदा लूटी जाती रही। कथित विकास आदिवासियों के लिए एक तरह का विनाश लेकर आया। आजादी से लेकर अब तक लगभग सात करोड़ लोग विकास के नाम पर उजाड़े जा चुके हैं जिनमें लगभग 50 प्रतिशत आदिवासी हैं। यानी आदिवासियों की कुल आबादी की लगभग एक चौथाई इस विकास की बलि चढ़ चुकी है।

आजादी के बाद अगर गांव के संतुलित विकास की तरफ ध्यान दिया जाता और ग्राम सभाओं को इस विकास का एक वाहक माना जाता तो आज गांव की तस्वीर बदल गई होती। गांव स्वराज, स्वशासन और स्वावलंबन का केंद्र बन गया होता। स्वराज, स्वशासन और स्वावलंबन के लिए काम करने वाले अनेक विचारकों का मत है कि "भारत जैसे विविध, विशाल और प्राचीन देश में अस्मिता का प्रश्न जीविका-जैसा ही महत्व का है। जिसके केन्द्र में है गांव और ग्राम सभा। मनुष्य की अस्मिता (खासकर ग्रामीणों की) इससे जुड़ी हुई है। आज मनुष्य अस्मिता के प्रति बहुत सजग हो गया है। तकनीक यदि जीविका को विकेंद्रित कर सकती है तो लोकतंत्र अस्मिता को विकेंद्रित कर सकता है, जिसमें ग्राम सभा एक महत्वपूर्ण इकाई साबित हो सकती है। जन-जन की दृष्टि में स्वतंत्रता तभी सार्थक होती है जब उसमें जीविका और अस्मिता, दोनों का आश्वासन हो। 'पड़ोस' के निर्माण में इन दोनों का आश्वासन साथ-साथ है। इन दोनों के मेल पर विभिन्न समुदायों का केवल सह-अस्तित्व ही नहीं, बल्कि सहकारी अस्तित्व निर्भर है।

भारत की एकता के बुनियादी सूत्र गांव की परम्परा में निहित हैं। वे सूत्र उसकी संगम संस्कृति,

शेष पृष्ठ 23 पर

भाईचारे का इतिहास

■ डॉ. महरउद्दीन खाँ

धर्म के नाम पर राजनीति करने वालों की हर समय यह कोशिश रहती है कि भारत के इतिहास को सांप्रदायिक बना कर पेश किया जाए। बाबर-राणा सांगा की लड़ाई हो या अकबर महाराणा प्रताप की या शिवाजी और औरंगजेब की। ये लोग राणा सांगा, महाराणा प्रताप और शिवाजी को हिंदू बना कर पेश करते हैं तथा बाबर, अकबर और औरंगजेब को मुसलमान बना कर।

सही बात तो यह है कि राजा, राजा होता था, उसकी सेना में हिंदू-मुसलमान सभी होते थे। जब राजा को मौका मिलता था, वह हिंदू-मुसलमान सभी के साथ लूटमार करते थे। मंदिर ज्यादा इसलिए लूटे जाते थे कि वहां सोना-चांदी और धन जमा होता था। मस्जिदों में ऐसा कुछ न पहले होता था, न अब होता है।

राजाओं का काम अपने राज का विस्तार करना होता था। उनके रास्ते में जो भी आता था, वह उनका दुश्मन होता था। अगर राजाओं का धर्म से कुछ लेना-देना होता तो कोई हिंदू राजा किसी हिंदू राजा पर हमला नहीं करता। कोई मुसलमान राजा किसी मुसलमान राजा पर हमला नहीं करता। सांप्रदायिकता की राजनीति करने वाले राजाओं को भी धर्म का रखवाला बना कर पेश करते हैं। राजाओं का काम ज्यादा से ज्यादा इलाका अपने कब्जे में करना होता था। वे ज्यादा से ज्यादा टैक्स वसूल करके अय्याशी करना चाहते थे।

किसी राजा ने कभी धर्मयुद्ध नहीं लड़ा। अगर किसी राजा के बारे में ऐसा कहा जाता है तो वह झूठ है। जहां तक धार्मिक स्थानों को तोड़ने की बात है तो पहले न तो ईंट के भट्टे थे न सीमेंट के कारखाने और न पत्थर तराशने के कारखाने थे। एक स्थान का मलबा दूसरे में प्रयोग करना आम बात थी। धार्मिक रंग देकर अपनी राजनीति करने वालों को पता होना चाहिए कि राजतंत्र का बदला लोकतंत्र में नहीं लिया जा सकता।

यहां एक बात बड़ी मज्जेदार है कि सांप्रदायिक ताकतों का इतिहास बाबर से शुरू होकर औरंगजेब पर

खत्म होता है। फिर मुस्लिम लीग के जन्म से देश के बंटवारे पर खत्म हो जाता है। बाबर से पहले का समय इनके इतिहास का विषय नहीं है। न ही अंग्रेजों की गुलामी और उनके द्वारा दी गयी गुलामी की निशानियां इनके इतिहास में हैं।

हम बाबर से शुरू करते हैं। बाबर के साथ लड़ाई में राणा सांगा अकेला नहीं था। हसन खाँ मेवाती और महमूद लोदी भी उसके साथ थे। इब्राहीम लोदी का भाई सुल्तान अहमद लोदी भी बाबर से लड़ने के लिए राणा के झंडे तले आ गया। इस तरह बाबर के खिलाफ लड़ाई में उस समय भारत के हिंदू और मुसलमान एकजुट थे।

बाबर के बाद उसका बेटा हुमायूँ राजा बना। शेरशाह के हमले के समय ब्रह्मजीत गौड़ उसका पीछा कर रहा था। उस समय अटेल के राजा वीरभान ने हुमायूँ को नदी पार कराई थी। वीरभान ने अपनी सहायता की भावना से यह काम किया था। अगर उसमें हुमायूँ के धर्म के बारे में कोई गलत विचार होता तो वह उसे वहीं खत्म कर सकता था। हुमायूँ जब अमरकोट पहुंचा तो राजपूतों और जाटों की सेना ने उसे भरपूर मदद पहुंचाई थी। हुमायूँ ने जब अमरकोट छोड़ा तो उसकी बेगम हमीदा बानो गर्भवती थी तथा पूरे दिन से थी। इसलिए बेगम को वहीं उसने राजपूत स्त्रियों के पास छोड़ दिया। यहीं पर हुमायूँ के जाने के तीन दिन बाद अकबर का जन्म हुआ था। अमरकोट के राजा ने हुमायूँ की बेगम की अपनी बेटी की तरह देखभाल की थी।

सांप्रदायिक लोग अकबर को मुसलमान और राणा प्रताप को हिंदू बना कर पेश करते हैं। अकबर ने धर्म के नाम पर खड़ी की गयी दीवारों को तोड़ा था। उसने राजपूत कुल में शादी की थी। उसने दीन-ए-इलाही नाम से नया धर्म चलाने की भी कोशिश की थी। राणा प्रताप के नाम पर राजनीति करने वालों ने अकबर को भी नहीं बख्शा। असलियत यह है कि राणा प्रताप अपने राज्य की रक्षा के लिए लड़ रहे थे और अकबर अपने राज्य के

विस्तार के लिए। न ही राणा प्रताप का मकसद हिंदू धर्म की रक्षा करना था, और न ही अकबर का मकसद इस्लाम की रक्षा करना था। अगर ऐसा होता तो राणा प्रताप के साथ मुसलमान न होते और अकबर के साथ हिंदू न होते।

अकबर की सेना का सेनापति राजा मानसिंह था। राणा प्रताप की सेना के आगे हकीम खान सूर अपने आठ सौ घुड़सवारों के साथ चल रहा था। इस लड़ाई को हिंदू-मुसलमान की लड़ाई कहना इतिहास का मजाक उड़ाना है। अकबर ने हिंदू मुस्लिम एकता के लिए बहुत कुछ किया था। अकबर ने गाय के मांस पर पूरी तरह पाबंदी लगा दी थी। यही नहीं जो हिंदू किसी कारण से मुसलमान बन गये थे उन्हें फिर से हिंदू बनने की इजाजत दे दी थी।

अकबर के नवरत्नों में राजा टोडरमल, बीरबल और तानसेन जैसी हस्तियां थीं। अकबर की सेना में राजा मानसिंह का पुत्र जगत सिंह, राय रैनन (विक्रमादित्य द्वितीय), राय लौन करण, राम चंद्र बघेल, बाथ का राजा आदि प्रमुख सेनापति थे।

अकबर ने संस्कृत ग्रंथों के अरबी और फारसी में अनुवाद की परंपरा भी शुरू कराई। अकबर ने उस समय की हिंदी को भी खूब बढ़ावा दिया था। अकबर ने बीरबल को कविराज की उपाधि दे रखी थी। राजा भगवान दास, राजा मान सिंह, अब्दुरहीम खानखाना अकबर के दरबारी हिंदी कवि थे। दरबार से बाहर तुलसीदास, सूरदास, नाभाजी, केशव आदि कवियों ने अकबर के समय ही कविता की थी। गोपाल भट्ट नामक कवि को भी अकबर के दरबार में पूरी इज्जत मिली थी।

अकबर के बेटे सलीम के विद्रोह में भी हिंदू-मुसलमान दोनों सलीम के साथ थे। ओरछा के सरदार बीर सिंह देव ने अबुल फजल को मार दिया था। जिस पर गुस्सा होकर अकबर ने बीर सिंह देव को मारने का फरमान जारी कर दिया। तब सलीम ने बीर सिंह देव का साथ दिया और उसे बचा लिया था, यही नहीं अकबर की मृत्यु के बाद जब सलीम, जहांगीर के नाम से गद्दी पर बैठा तो उसने बीर सिंह देव को अपने दरबार में ऊंचा ओहदा भी दिया।

जहांगीर के शासन में जब बीकानेर के पांच हजारी मनसबदार राम सिंह ने विद्रोह किया तो इसे दबाने के लिए अम्बर के राय जुगाथ कछवाहा को भेजा गया। इसी तरह उड़ीसा के राजा पुरुषोत्तम दास को हराने के लिए टोडरमल के पुत्र कल्याण सिंह को भेजा गया था।

गलती करने पर जहांगीर किसी मौलवी के साथ भी रियायत नहीं करता था। जहांगीर ने मूर्खतापूर्ण उपदेश देने पर शेख इब्राहीम बाबा को चुनार में और शेख अहमद बाबा को ग्वालियर की कैद में डाल दिया था। जहांगीर के दरबार में चित्रकार बिशनदास और हिंदी विद्वान जदरूप गोसाई तथा राम मनोहर लाल को काफी सम्मान मिला हुआ था।

जहांगीर ने हिंदुओं को मंदिर बनाने की पूरी छूट दी थी। उन्हें बिना कोई कर अदा किये धार्मिक यात्राएं करने की छूट भी दी थी। इस तरह जहांगीर को किसी भी हालत में सांप्रदायिक नहीं कहा जा सकता।

पंडित जवाहर लाल नेहरू ने अपनी पुस्तक 'भारत की खोज' में, जहांगीर को आधा मुगल और आधा राजपूत बताया है।

जहांगीर के बाद शाहजहां ने भी हिंदू-मुस्लिम एकता की मशाल को जलाए रखा। शाहजहां के समय में कमलाकर भट्ट ने 'निर्णय सिंधु' की रचना की। कवींद्राचार्य ने ऋग्वेद की व्याख्या लिखी, नित्यानंद ने ज्योतिष शास्त्र के ग्रंथ लिखे। पंडित जुगाथ ने दारा शिकोह और आसफ खान की प्रशंसा में कविताएं लिखीं। हिंदू विधि विधान के लेखक मित्र मिश्र भी शाहजहां के ही समय में फले-फूले थे।

सांप्रदायिक ताकतों शाहजहां के बाद गद्दी पर बैठे औरंगजेब और शिवाजी की लड़ाई को भी हिंदू-मुस्लिम की लड़ाई बना कर पेश करती हैं। यह लड़ाई भी हिंदू-मुस्लिम की न हो कर एक मराठा सरदार शिवाजी की राजा औरंगजेब से बगावत थी। इस बगावत में कई मुसलमान शिवाजी के साथ, तो कई हिंदू शिवाजी के खिलाफ लड़े थे।

औरंगजेब ने शिवाजी से लड़ने को राजा जय सिंह को भेजा था। जय सिंह की सेना में दो हजार मराठा घुड़सवार और सात हजार पैदल सिपाही नेताजी पालकर की कमान में शिवाजी के विरुद्ध लड़ रहे थे। शिवाजी की सेना में दिलेर खां ने मुगल सेना के छक्के छुड़ा दिये थे। शिवाजी की सेना में भी हजारों मुसलमान घुड़सवार और पैदल सैनिक थे। यही नहीं, शिवाजी के मुंशी भी काजी हैदर खां थे। औरंगजेब और शिवाजी की लड़ाई हिंदू-मुसलमानों की लड़ाई तो थी ही नहीं। यह मुगलों-मराठों की लड़ाई भी नहीं थी। बहुत से इज्जतदार मराठा सरदार हमेशा मुगलों की सेना में रहे। सिंद खेड के जाधव राव के अलावा कान्होजी शिर्के, नागोजी माने, आवाजी ढल, रामचंद्र और बहीर जी पंढेर वगैरह मराठा सरदार मुगलों के साथ रहे थे।

राजा, राजा होता था हिंदू या मुसलमान नहीं। शिवाजी ने जब मुगलों के व्यापार केंद्र सूरत पर हमला किया तो शिवाजी के सैनिकों ने वहां चार दिन तक हिंदू व्यापारियों के साथ जम कर लूटपाट की। सूरत के मशहूर व्यापारी वीर जी बोरा थे, जिसके अपने जहाज थे। उस समय उसकी संपत्ति अस्सी लाख रुपये थी। शिवाजी ने वीर जी बोरा को भी जम कर लूटा। औरंगजेब ने सूरत की सुरक्षा के लिए सेना भेजी। उसने तीन साल तक व्यापारियों से चुंगी न वसूल करने का हुक्म भी जारी कर दिया।

औरंगजेब ने अनेक ब्राह्मणों व जैनों को जायदाद के लिए स्थायी पट्टे भी जारी किये थे। औरंगजेब के ये फरमान आज भी सुरक्षित हैं। बनारस में गोसाई माधव दास, गोसाई राम जीवन दास और पालीताना में जैन जौहरी सतीदास को ऐसे ही फरमान दिये गये थे।

अकबर के जमाने में हिंदू मनसबदारों की संख्या केवल 32 थी। जहांगीर के जमाने में यह 56 हो गयी। औरंगजेब के जमाने में यह बढ़कर 104 हो गयी थी। इससे यह साबित होता है कि औरंगजेब को हिंदुओं से कोई बैर नहीं था। दरबार में और सेना में हिंदुओं की भर्ती बिना किसी भेदभाव के की जाती थी। मुगल शासन का यह समय हिंदू-मुस्लिम

भाईचारे का एक सुनहरा समय था। आज स्वार्थी लोग इस सुनहरे इतिहास पर कालिख पोतना चाहते हैं।

यह वही समय था जब कबीरदास ने पाखंडों के लिए हिंदू पंडितों और मौलवियों दोनों को लताड़ा था। आज की तरह किसी मौलवी की हिम्मत कबीरदास के खिलाफ कोई फतवा जारी करने की नहीं हुई। न ही कोई पंडित कबीरदास को दंड दे सका।

नफरत की जो चिंगारी आज फैलाई जा रही है वह मुगलों के शासन काल में नहीं थी। गुरु अर्जुन देव ने 1588 में किया था। औरंगजेब का यह विरोध पत्र अदब-ए-आलमगीरी में सुरक्षित है।

सही मायने में भारत की गुलामी का दौर अंग्रेजों के शासन से ही शुरू होता है। मुगल विदेशी थे। मगर यहां आने के बाद वह यहीं के होकर रह गये। उन्होंने जो कमाया यहां की जनता पर यहीं खर्च किया। यहां की दौलत को लूट कर वह देश से बाहर नहीं ले गये। मुगलों ने न यहां का धर्म बिगाड़ा, न भाषा बिगाड़ी, न संस्कृति, न खान-पान-पहनावा बिगाड़ा। इस देश से उन्हें कितना प्यार था इसकी झलक अंतिम मुगल बादशाह बहादुरशाह जफर की इन पंक्तियों से मिलती है :

है कितना बदनसीब जफर दफन के लिए
दो गज ज़मी भी न मिली कूए यार में

1857 में आज़ादी की पहली लड़ाई में आज़ादी के दीवानों ने बहादुरशाह जफर को ही अपना राजा माना था। बहादुर शाह जफर का देशप्रेम देखिये कि उसके जवान बेटों के सर कलम कर उसे पेश किये गये और उसने उफ तक न किया। बहादुरशाह जफर को अंग्रेजों ने रंगून जेल में डाल दिया। कैदी बना यह बादशाह भारत में दफन होना चाहता था मगर वह भी उसे नसीब न हो सका।

इस बादशाह की पहले से तैयार की गयी खाली कब्र आज भी महारौली में मौजूद है। जिन अंग्रेजों ने हमारा खान-पान-पहनावा और भाषा तक हमसे छीन ली और जिन्होंने भारत को भिखारी बना दिया, उनके खिलाफ ये सांप्रदायिक लोग एक शब्द बोलना भी पसंद नहीं करते।

दरअसल अंग्रेजों ने दोनों धर्मों के बीच विष बीज बोने के लिए इतिहास को तोड़ना-मरोड़ना शुरू कर दिया। अंग्रेजों की इसी परंपरा को आज सांप्रदायिकता की राजनीति करने वाले आगे बढ़ा रहे हैं। वे भी फूट डालो और राज करो की नीति पर चलते थे। ये भी उसी नीति पर चल रहे हैं। आज इतिहास की सही जानकारी ज्यादा से ज्यादा लोगों तक पहुंचाने की जरूरत है।

साभार :

आज भी प्रासंगिक हैं ग्राम सभाएं

पृष्ठ 20 का शेष ग्रामीण अर्थनीति तथा राज्य-निरपेक्ष सामाजिक जीवन में हैं। भारतीय समाज कभी राज्य-संचालित नहीं रहा है। राज्य का दायरा हमेशा समाज के दायरे से अलग और छोटा रहा है। अंग्रेजी राज ने हमारे समाज को शासन के दायरे के अंदर लाकर उसे राज का आश्रित बना दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि समाज टूटा और टूटता ही चला गया। अंग्रेजी राज के तमाम आधुनिक विकास के बावजूद समाज की जीवनी-शक्ति का ह्रास होता चला गया। दुख है कि आजादी के बाद भी समाज की जीवनी-शक्ति के स्रोतों को पहचानने की कोशिश नहीं की गई। 'नेशन-स्टेट' का राज्य, राष्ट्र पर हावी होता चला गया। इसका कारण राष्ट्र और राज्य दोनों कमजोर हुए। यह भारत का दोहरा दुर्भाग्य है। वास्तव में पंचायती राज व्यवस्था राज्य सत्ता की एक निचली इकाई है। जिसे हम पंचायती राज कहते हैं वह न तो सत्ता का विकेन्द्रीकरण है और न समाज का सहभागी स्वरूप।

पंचायती राज के तहत पेसा कानून के बनते ही आदिवासी इलाके में एक उत्साह का माहौल बना क्योंकि इस विस्तार अधिनियम में परम्परागत आदिवासी व्यवस्था को मान्यता दी गई थी। सभी इलाकों में इस कानून को अमल में लाने को लेकर जोरदार रैलियाँ हुईं और जगह-जगह इससे संबंधित शिलालेख गांव के प्रवेशद्वार पर गाड़े

जाने लगे। इस कानून की तीन बड़ी विशेषताएँ हैं — पहला, गाँव बसाहट (टोला एवं उसके संचालन के रीति-रिवाज को संवैधानिक मान्यता मिलना, दूसरा ग्राम सभा की अनुशंसा के बिना किसी प्रकार के विकास कार्य गाँव के भीतर न होना तथा लघु वनोपज और गौण खनिज पर ग्राम सभा को मालिकाना हक मिलना।) उक्त तीनों बातें अगर पेसा कानून के अनुरूप गाँव में क्रियान्वित की जातीं तो पिछले बीस वर्षों में गाँव की तस्वीर बदलती सी दिखती।

गाँव, ग्राम सभा और उसको संचालित करने वाला समुदाय पिछले दो दशकों में इतना ताकतवर अवश्य हो गए होते कि स्वशासन और स्वावलंबन की प्रक्रिया को अमली जामा पहनाया जा सकता था। लेकिन खेद की बात यह है कि पांचवीं अनुसूची के अंतर्गत आने वाले राज्यों में से किन्ही ने भी इस कानून के प्रति कोई निष्ठा नहीं दिखाई और न तुरंत इससे संबंधित रूल्स (नियमावली) बनाने की चेष्टा की।

'पेसा' और 'एफ.आर.ए.' हमारे लिए महज कानून नहीं है बल्कि लड़ाई को आगे बढ़ाने का ऐसा औजार (हथियार भी कह सकते हैं) हैं, जो ग्राम सभा की ताकतों को मजबूत कर सकता है और ग्राम सभा की प्रासंगिकता को बढ़ा सकता है। ग्राम सभा के माध्यम से हम सब पूर्ण स्वराज और सम्पूर्ण स्वावलंबन की ओर बढ़ सकते हैं।

असत्य कथाएं

गांधी चाहते तो भगत सिंह को फांसी नहीं होती

देश की बहुत बड़ी आबादी खासकर नौजवानों के मन में गांधी बनाम भगत सिंह के शीर्षक से कई काल्पनिक कहानियां रची-बसी हैं। इनसे उपजने वाला अंतिम सवाल अक्सर ये होता है कि आखिर गांधी ने भगत सिंह और उनके साथियों की रिहाई के लिए कुछ क्यों नहीं किया? इसके बाद तर्कों और तथ्यों की तरफ पीठ करके गांधी के व्यक्तित्व के तमाम पहलुओं का पोस्टमार्टम शुरू हो जाता है, कोई कहता है कि गांधी स्वार्थी थे और अपनी शोहरत चाहते थे? कोई कहता है कि गांधी की वजह से भारत का विभाजन हुआ। लोक में गांधी की तमाम स्वीकार्यता के बावजूद लंबे समय तक देश के वामपंथी और दक्षिणपंथी दोनों उनसे समान

रूप से दूर रहे। यह जुमला भगत सिंह की मौत के बाद से आज तक उछाला जा रहा है कि महात्मा गांधी, भगत सिंह की लोकप्रियता से बहुत जलते थे। उनको लगता था कि भगत सिंह का क्रांति दर्शन लोगों को उनकी अहिंसा के मुकाबले अधिक भाता है और यही वजह है कि गांधी ने भगत सिंह की रिहाई में कोई रुचि नहीं ली। यह भी कि गांधी के साथ वैचारिक टकराव की कीमत भगत सिंह और उनके साथियों को अपनी जान देकर गंवानी पड़ी। विडंबना तो यह है कि ऐसी बातों केवल गांव की चौपालों का हिस्सा नहीं हैं बल्कि कई प्रतिष्ठित विद्वानों ने भी इस विषय पर तमाम कागज काले किए हैं।

सत्य तथ्य

“

सचाई यह है कि गांधी ने भगत सिंह और उनके साथियों की रिहाई के लिए अपनी सीमा के भीतर हर संभव प्रयास किया। इस मुद्दे पर गांधी की आलोचना करने वाले यह भूल जाते हैं कि भगत सिंह और उनके साथियों की जान बचने का सबसे अधिक फायदा उनको ही मिलता। गांधीजी को अच्छी तरह पता था कि भगत सिंह और उनके साथियों को फांसी होने पर देश के युवा खासतौर पर कांग्रेस के युवा बहुत नाराज होंगे और हुआ भी यही। गांधीजी का अहिंसा में दृढ़ विश्वास था और यह बात किसी से छिपी नहीं है। भगत सिंह के मामले में उनके रुख को भी इसी नजरिये से देखना होगा। वह आजादी की लड़ाई में हिंसा का रास्ता अपनाने वालों को भ्रमित मानते थे। दिल्ली में एक सार्वजनिक सभा में उन्होंने कहा था कि वह हर तरह की हिंसा के खिलाफ हैं फिर चाहे वह सरकार की हिंसा ही क्यों न हो। उन्होंने इसी आधार पर भगत सिंह और उनके साथियों की फांसी का भी विरोध किया था। भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु की फांसी के तीन दिन बाद कांग्रेस के कराची सत्र में उन्होंने कहा, 'आपको जानना चाहिए कि मैं हत्यारों तक को सजा देने के खिलाफ हूँ। यह शंका निराधार है कि मैं भगत सिंह को बचाना नहीं चाहता था लेकिन मैं उनकी गलतियों से भी आपको अवगत कराना चाहता हूँ। उनका रास्ता गलत था।' यह बात भी गलत है कि भगत सिंह के मामले में गांधीजी ने फांसी के कुछ दिन पहले ही सक्रियता दिखाई। गांधी ने 4 मई, 1930 को ही वायसराय को खत लिखकर इस बात पर नाराजगी जताई थी। इसके बाद लाहौर षडयंत्र मामले की सुनवाई के लिए अलग पंचाट बनाया गया। 31 जनवरी, 1931 को उन्होंने इलाहाबाद में कहा कि भगत सिंह और उनके साथियों को फांसी नहीं दी जानी चाहिए। उन्होंने कहा कि उन्हें फांसी तो क्या जेल तक में नहीं रखा जाना चाहिए। गांधी और इर्विन के बीच फरवरी-मार्च 1931 में हुई वार्ता के दौरान गांधीजी पर बहुत दबाव था कि वह बातचीत के लिए भगत सिंह की रिहाई को शर्त बनाएं लेकिन गांधीजी ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने वायसराय के साथ बातचीत में यह जरूर कहा कि अगर आप माहौल को और अधिक अनुकूल बनाना चाहते हैं तो आपको भगत सिंह की फांसी रोक देनी चाहिए। एक हकीकत यह भी है कि तत्कालीन कानूनों के मुताबिक एक बार प्रिवी काउंसिल का निर्णय आ जाने के बाद वायसराय भी सजा को कम नहीं करवा सकते थे।

साभार : तहलका

इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

प्लेट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067, भारत, टेलीफोन : 091-26177904, टेलीफैक्स : 091-26177904
ई-मेल : notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : www.isd.net.in / www.sach.org.in

केवल सीमित वितरण के लिए

मुद्रण : डिजाइन एण्ड डाइमेंशंस, एल-5 ए, शेख सराय, फेज-II, नई दिल्ली-110017